द्वैमासिक
मई–जून 2016
20 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से बाहर जाना : साम्राज्यवादी संकट के गहराते भँवर का नतीजा

राष्ट्रवाद : एक ऐतिहासिक परिघटना का इतिहास और वर्तमान

विधानसभा चुनावों के नतीजे : हिन्दुत्ववादी फासीवाद के आगे बढ़ते कदम

गहराता विश्व आर्थिक संकट और जी-20 की बैठक

विजय माल्या तो झाँकी है, असली कहानी अभी बाकी है

जल संकट वित्तीय पूँजी की जकड़बन्दी का नतीजा

अपने इन्हीं दिवंगतों के नाम पर
मैं सज़ा की माँग करता हूँ

जिन्होंने हमारे वतन को ख़ून से छिड़का, उनके लिए
मैं सज़ा की माँग करता हूँ
उसके लिए जिसके हुक़्म पर यह जुर्म किया गया
मैं माँगता हूँ सज़ा
उस ग़द्दार के लिए जो इन देहों पर कदम रखता
सत्ता में आया, मैं सज़ा की माँग करता हूँ
उन क्षमाशील लोगों के लिए जिन्होंने इस जुर्म को माफ़ किया
मैं सज़ा की माँग करता हूँ

मैं नहीं चाहता हर तरफ़ हाथ मिलाना और भूल जाना,
मैं उनके ख़ून सने हाथ नहीं छूना चाहता।
मैं सज़ा की माँग करता हूँ।
मैं नहीं चाहता वे कहीं राजदूत बना कर भेज दिये जायें,
न यहाँ देश में ढँके-छुपे रह जायें
जब तक कि यह सब गुज़र नहीं जाता।
मैं चाहता हूँ न्याय हो
यहाँ खुली हवा में ठीक इसी जगह।

मैं उन्हें सज़ा दिये जाने की माँग करता हूँ।

— पाब्लो नेरूदा

(अनुवाद : नीलाभ अश्क)

आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ कायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी कायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में कैद; नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

➢ 'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

पाठक मंच 2

अपनी ओर से

मोदी सरकार के दो साल : जनता का हाल बेहाल 3

विश्व पटल पर

ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से बाहर जाना साम्राज्यवादी संकट के गहराते... 6

गहराता विश्व आर्थिक संकट और जी-20 बैठक 22

विमर्श

राष्ट्रवाद : एक ऐतिहासिक घटना का इतिहास और वर्तमान 10

सामयिकी

जल संकट वित्तीय पूँजी की जकड़बन्दी का नतीजा 14

बिपिन चन्द्र की पुस्तक पर भगवा हमला : भगतसिंह बनाम क्रान्तिकारी... 18

विधान सभा चुनाव के नतीजे : हिन्दुत्ववादी फासीवाद के आगे बढ़ते कदम 25

संघ के फासीवादी हमले के विरुद्ध 'जेएनयू' में चले आन्दोलन से जुड़े कुछ... 34

'भारत माता की जय'.... सत्ता के दमन की चपेट में - छत्तीसगढ़ की जनता! 48

विरासत

अमर शहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' को याद करते हुए 30

प्रीतिलता वादेदार : चटगाँव विद्रोह की अमर सेनानी 42

शहीद सुखदेव के जन्मदिवस के अवसर पर 47

ढोल की पोल

विजय माल्या तो झाँकी है, असली कहानी अभी बाकी है 31

जुमले बनाम रोज़गार और विकास की स्थिति 44

सृजन सैद्धान्तिकी

लोकप्रियता और यथार्थवाद 51

साहित्य

ग्वाटेमाला की जनता के संघर्षों के सहयोद्धा कवि ... ओतो रेने कस्तिय्यो 55

हमारे समय के दो पहलू 58

गतिविधियाँ

लगातार गायब हो रहे बच्चों के कारण मानखुर्द के लोगों में रोष... 59

हरियाणा में बिजली निगम की 23 'सब डिवीजनों' के निजीकरण के... 60

नौजवान भारत सभा द्वारा बस किराये में बढ़ोत्तरी का विरोध 61

शिमला में शहीद भगतसिंह पुस्तकालय की स्थापना 61

चण्डीगढ में फ़िल्म क्लब का गठन 62

कॉलेज प्रशासन की तानाशाही के ख़िलाफ़ 'पटना आर्ट कॉलेज' के... 62

बढ़ते स्त्री विरोधी अपराधों के ख़िलाफ़ मदवि में परचा वितरण 64

छपते-छपते

कश्मीरी जनता का दमन : देश कागज़ पर बना नक्शा नहीं होता 64

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

वर्षः 9 अंकः 3

मई-जून, 2016

सम्पादक
अभिनव

सह-सम्पादक
कविता

सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य: **20 रुपये**

वार्षिक सदस्यता: **160 रुपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **320 रुपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **750 रुपये**
आजीवन सदस्यता: **2,000 रुपये**

सम्पादकीय कार्यालय: बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन: 09999750940

ईमेलः ahwan.editor@gmail.com वेबसाइटः ahwanmag.com फ़ेसबुकः facebook.com/muktikamiahwan

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

पाठक मंच

सम्पादक महोदय, मैं पिछले तीन वर्ष से आह्वान का पाठक हूँ। मुझे आह्वान पत्रिका पढ़ना बहुत अच्छा लगता है। इसके सभी लेखों को मैं ध्यान से पढ़ता हूँ। इस पत्रिका के लेख समाज की समस्याओं का गहराई से विश्लेषण करते हैं। आज समाज में ऐसी पत्रिकाओं की बहुत आवश्यकता है क्योंकि ये वैकल्पिक मीडिया का काम भी बख़ूबी करती है। पूँजीवादी मीडिया जहाँ जनता को गुमराह कर रहा है वहीं आह्वान जैसी पत्रिका उन्हें सही दिशा देने में प्रयासरत है। आज का बिकाऊ मीडिया युवाओं को भ्रम का शिकार बनाकर उन्हें ऐतिहासिक सच्चाइयों से भी विमुख कर रहा है। आज स्कूल, कॉलेज और अन्य शिक्षण संस्थानों में पढ़ाई का भगवाकरण किया जा रहा है और छात्रों को सच्चाई से दूर रखा जा रहा है। मैं अपना एक अनुभव आप सभी से साझा करना चाहता हूँ। कुछ ही दिन पहले मैं जलियावाला बाग (अमृतसर) गया था। जब मैं वहाँ पर मौजूद अपने शहीदों की धरोहर का अवलोकन कर रहा था तो उसी दौरान मेरी दृष्टि चार युवाओं पर पड़ी जो लगभग 18 से 22 साल की उम्र के रहे होंगे। ये नौजवान शहीदों से जुड़ी यादगार और धरोहर को कृत्रिम ('आर्टिफीसियल') बता रहे थे। जब मैंने उन्हें बताया की ये वास्तविक हैं और उन्हें जलियावाला काण्ड की इतिहाससिद्ध सच्चाई से अवगत कराया तो ही वे सहमत हुए। लेकिन इस दौरान उनके साथ हुई बातचीत में उनके बहस करने, तर्क करने आदि के स्तर से साफ़ पता चल रहा था कि किस प्रकार युवाओं को अज्ञानता के अन्धेरे में धकेला जा रहा है। ज़्यादा दिन नहीं हुए जब स्मृति ईरानी जैसी कम पढ़ी-लिखी महिला शिक्षा मंत्रालय की सर्वेसर्वा बनकर शिक्षण संस्थाओं पर भगवाकरण थोप रही थी, उनके बदलने के बाद अब प्रकाश जावड़ेकर एम.एच.आर.डी. मंत्री बन गये किन्तु ज़ाहिर है बदलाव सिर्फ़ चेहरे में हुआ है नीतियाँ वही रहने वाली हैं। जब से भाजपा सत्ता में आयी है तबसे और भी तेजी से इतिहास का विकृतीकरण हुआ है। इस मुद्दे पर ज़रूर ध्यान दिया जाना चाहिए और सरकार की नीतियों का विरोध होना चाहिए। आह्वान पत्रिका ने हरियाणा में हुई आरक्षण के नाम पर राजनीति और गुण्डागर्दी की पोल खोलकर रख दी है और सरकार द्वारा लोगों को बाँटने की राजनीति का पर्दाफ़ाश किया है। सदाचारी संघी फासीवादी सत्ताधारियों की चाल-चरित्र की पूरी सच्चाई को जनता के सामने रखने का काम भी पिछले अंक में हुआ है। आह्वान राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनों से जुड़े मुद्दों पर सटीक जानकारी देती है। अभी हाल ही में 'अमेरिकी चुनाव और ट्रम्प परिघटना' लेख पढ़ा जो अमेरिकी राजनीति के विषय में अच्छी जानकारी मुहैया करवाता है। सैल्फी लेने का चलन आज-कल बहुत बढ़ गया है। पूँजीवाद किस प्रकार अलगाव की कुसंस्कृति आज परोस रहा है उसे समझने में पिछले अंक से काफ़ी मदद मिली। हमारे समाज में इस तरह की पत्रिकाओं की कमी है, हमें इसे सुचारू रूप से चलाते हुए समाज के हर तबके तक पहुँचाना चाहिए। मैं सम्पादक मण्डल से अपील करूँगा की आह्वान को मासिक करने की कोशिश की जाय।

-कृष्ण कुमार
गाँव: शिमला, कलायत, कैथल (हरियाणा)

आह्वान' के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

"आह्वान" सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये "आह्वान" सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। आपको मालूम हो कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में "आह्वान" अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप- 1- आजीवन सदस्यता ग्रहण कर सहयोग कर सकते हैं। 2- अपने मित्रों को "आह्वान" की सदस्यता दिलवायें। 3- "आह्वान" के मद में आर्थिक सहयोग भेजें। और "आह्वान" के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र प्रेषित कराने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि निम्नलिखित खाता नं. में भी प्रेषित कर सकते हैं। यह ज़रूरी है कि आर्थिक सहयोग भेजते समय हमें सूचित अवश्य कर दें।

प्रति - मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, खाता नं- 21360100010629

साभिवादन,
सम्पादक

अपनी ओर से

मोदी सरकार के दो सालः जनता बेहाल, पूँजीपति मालामाल

16 मई 2016 को मोदी सरकार के दो वर्ष पूरे हो गये। इन दो वर्षों में नरेन्द्र मोदी औसतन हर सप्ताह में एक दिन विदेश दौरे पर रहे। इसमें अमेरिका के चार दौरे प्रमुख थे। इन दो सालों में मोदी ने ओबामा से सात मुलाकातें कीं और अमेरिकी राष्ट्रपति को ''बराक-बराक'' बोलकर भारतीय मीडिया और यहाँ के भयंकर अज्ञानी मध्य वर्ग के सामने अपने आपको ऊँचा दिखाने का प्रयास किया। लेकिन पता नहीं कैसे हर बार इन प्रयासों के कारण मोदी का मज़ाक ही उड़ा। अमेरिका के बार-बार दौरों से ऐसा मालूम पड़ रहा था कि पहले अमेरिका ने गुजरात दंगों के कारण मोदी को वीज़ा देने से जो इंकार किया था और उस समय अमेरिका जाने की जो हसरत मोदी के दिल में दबी रह गयी थी, उसे मोदी मचल-मचल कर पूरा कर रहे थे! मोदी एक मामले में तो तमाम प्रधानमंत्रियों से आगे निकल ही गये हैं। आज़ाद भारत के इतिहास में अपनी मूर्खता और अज्ञान के लिए किसी प्रधानमंत्री का इतना मज़ाक नहीं बना है, जितना कि मोदी का बना है। मगर एक मामले में मोदी की बुद्धि बुलेट ट्रेन की रफ्तार से चलती है! कारपोरेट घरानों, विदेशी पूँजी, बड़े दुकानदारों और समूचे पूँजीपति वर्ग की आक्रामक अंदाज़ में खिदमत करने और मज़दूरों और आम मेहनतकशों की जेब से आखिरी चवन्नी तक उड़ा लेने में मोदी ने अपने सभी पूर्ववर्तियों को पीछे छोड़ दिया है।

इन दो वर्षों में मोदी सरकार के कारनामों पर अगर एक सरसरी निगाह डाली जाय तो यह बात साफ़ हो जाती है। इसके लिए आइये सबसे पहले मोदी सरकार के दो बजटों पर एक संक्षिप्त निगाह डालते हैं। **2015 के बजट में मोदी सरकार ने घोषणा की कि प्रत्यक्ष करों में कटौती के कारण सरकारी खजाने को रु. 8415 करोड़ का घाटा हुआ था जबकि अप्रत्यक्ष करों में बढ़ोत्तरी के कारण सरकार को रु. 23,383 करोड़ का लाभ हुआ था। 2016 में प्रत्यक्ष करों में कटौती के कारण सरकारी राजस्व को रु. 1060 करोड़ का घाटा हुआ और अप्रत्यक्ष करों में बढ़ोत्तरी के कारण रु. 20,670 करोड़ का लाभ हुआ। यानी कि दोनों वर्षों में अप्रत्यक्ष करों में रु. 44,053 करोड़ की बढ़ोत्तरी हुई जबकि प्रत्यक्ष करों में रु. 9,375 करोड़ की कमी हुई। जैसाकि हम सभी जानते हैं, अप्रत्यक्ष कर मुख्य रूप से आम जनता देती है, जबकि प्रत्यक्ष कर मुख्य रूप से कारपोरेट घराने, पूँजीपति और अमीर वर्ग देते हैं।** जो जितना धनी होता है, कानूनन उसे उतना ज़्यादा प्रत्यक्ष कर देना होता है। ज़ाहिर है, कि मोदी सरकार ने धनिक वर्गों को प्रत्यक्ष करों के बोझ से भारी छूट दी है। इसके अलावा, मोदी सरकार ने तमाम पूँजीपतियों को विभिन्न करों, शुल्कों आदि से पहले ही भारी छूट दे रखी है। दूसरी ओर आम मेहनतकश लोगों की मेहनत की लूट को बढ़ाने में अप्रत्यक्ष करों में भारी बढ़ोत्तरी

कर मोदी सरकार ने पूँजीपति वर्ग की भारी मदद की है। महँगाई बढ़ने के तमाम कारणों में से एक अप्रत्यक्ष करों में लगातार की जा रही बढ़ोत्तरी भी है। इन कदमों से देश में पैदा हो रही सम्पदा को लगातार अमीरों की तिजोरियों में स्थानान्तरित किया जा रहा है जबकि ग़रीबों की जेब काटने का काम हो रहा है।

2015-16 में मोदी सरकार ने कारपोरेट घरानों को जो कर छूटें दीं उनका आँकलन किया जाय तो हम पाते हैं कि इससे सरकारी खजाने को करीब 69 हज़ार करोड़ रुपये का नुकसान हुआ है। इस रकम से राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के तीन वर्ष की धनराशि जुटायी जा सकती थी। कस्टम शुल्क से जवाहरात और आभूषण उद्योग को करीब 61 हज़ार करोड़ रुपये की छूट दी गयी है। इस वर्ष के बजट में स्पष्ट कर दिया गया है कि सरकार तमाम पब्लिक सेक्टर सम्पत्तियों को विनिवेश और निजी खरीद के लिए खोल देगी, जिनमें कि ज़मीन भी शामिल है। विशालकाय तेल कारपोरेशनों को भारी छूटें तोहफे में दी गयी हैं। वहीं खाद्यान्न व्यापार, रक्षा, बैंक आदि समेत 15 प्रमुख क्षेत्रों को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए खोल दिया गया है। इतनी बेशरमी और नंगई से पल्टी मारने में भी मोदी पहले प्रधानमंत्री साबित हुए हैं। **अभी दो वर्ष पहले ही मोदी ने खुदरा व्यापार में 50 प्रतिशत से ज़्यादा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की आज्ञा देने के लिए कांग्रेस-नीत संप्रग सरकार को काफ़ी खरी-खोटी सुनायी थी और जनता के सामने वायदा किया था कि वह अन्तिम साँस तक एफडीआई के विरुद्ध लड़ेंगे। लेकिन अब उसके बारे में मोदी सरकार और संघ परिवार ने चुप्पी साध ली है। संघियों के स्वदेशी जागरण मंच का क्या हुआ, इसके बारे में भी कोई कुछ नहीं बोल रहा है।** ज़ाहिर है, तमाम फासीवादियों की तरह हमारे देश के साम्प्रदायिक फासीवादी भी झूठ बोलने की तकनीक और जनता के 'भूलने की शक्ति' पर काफ़ी निर्भर कर रहे हैं।

"हम मोदी सरकार की बढ़ती अलोकप्रियता को देखकर तमाशबीनों की तरह ताली बजायेंगे, तो बुरी तरह फँसेंगे। बेहतर होगा कि हम मोदी सरकार के ज़रिये पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के विश्वव्यापी अवसान को जनसमुदायों के समक्ष स्पष्ट करें और यह भी स्पष्ट करें कि पूँजीवाद इतिहास का अन्त नहीं है। विकल्प का प्रश्न ही आज का सबसे बड़ा प्रश्न है और हमारा भविष्य काफ़ी हद तक इस विकल्प के निर्माण पर निर्भर करता है।"

खाद्यान्न की खरीद के मामले में मोदी सरकार ने 'विकेन्द्रीकरण' का नारा बुलन्द किया है। यानी कि अब भारतीय खाद्य निगम द्वारा केन्द्रीकृत खाद्यान्न खरीद की व्यवस्था को भंग कर इसे राज्य सरकारों और साथ ही निजी क्षेत्र के हवाले किया जायेगा। संप्रग सरकार ने पहले ही सार्वजनिक खाद्य वितरण प्रणाली के अन्तिम संस्कार का इन्तज़ाम कर दिया था; भाजपा की मोदी सरकार बस उसी काम को पूर्णता तक पहुँचा रही है कहा जाये तो मुर्दे को फूँकने का काम कर रही है। इसी क्रम में मोदी सरकार ने कृषि उत्पादों के विपणन की ई-मार्केटिंग का रास्ता खोलकर एग्री. बिज़नेस कम्पनियों और इस क्षेत्र की विशालतम इजारेदार कम्पनियों के लिए बेरोक-टोक मुनाफ़ाखोरी और जनता के लिए भयंकर खाद्यान्न असुरक्षा का रास्ता खोल दिया है।

इसके साथ ही मोदी सरकार ने अपने 'बिग बैंग एफडीआई सुधारों' में 15 क्षेत्रों को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए खोल दिया है। इसमें बैंकिंग, सिंगल ब्राण्ड रीटेल, रक्षा, निर्माण, ब्रॉडकास्टिंग, नागरिक उड्डयन, फार्मास्यूटिकल जैसे रणनीतिक आर्थिक क्षेत्र शामिल हैं। जहाँ एक ओर यह सच है कि एफडीआई के कारण छोटी पूँजी की तबाही पर विधवा-विलाप करना हमारा कार्य नहीं है, वहीं यह भी सच है कि फार्मास्यूटिकल और खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से लम्बे दौर में महँगाई में बढ़ोत्तरी होगी। इससे छोटे व्यापारियों का एक वर्ग सड़क पर आयेगा। लेकिन यह भी सच है कि छोटे व्यापारियों का यह वर्ग अभी मज़दूर और आम मेहनतकश आबादी को लूटने-खसोटने में किसी भी रूप में इज़ारेदार कम्पनियों से पीछे नहीं रहा है, बल्कि हर प्रकार के विनियमन से बच पाने के कारण और मुनाफ़े के मार्जिन के कम होने के कारण वह आम मेहनतकश आबादी को ज़्यादा बेशरमी से लूटता है। कहने की आवश्यककता नहीं है कि इस प्रश्न पर तमाम वामपन्थियों की अवस्थिति आर्थिक तौर पर सिस्मोंदिवाद और नरोदवाद का मिश्रण पेश करती है। **निश्चित तौर पर, कोई भी प्रगतिशील और क्रान्तिकारी व्यक्ति देशी-विदेशी पूँजी को खुली छूट दिये जाने के तमाम कदमों (जिसमें एफडीआई और एफआईआई शामिल हैं) का विरोध करेगा; लेकिन उसकी अवस्थिति सर्वहारावर्गीय अवस्थिति होगी न कि टुटपुंजिया वर्गों का स्यापा, जो कि पूँजीवाद का खेल तो खेलना चाहते हैं लेकिन उसके इस नियम से छूट चाहते हैं कि बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है।** वास्तव में, जब इन छोटे और मँझोले व्यापारियों को अपने से छोटे व्यापारियों को निगलने का अवसर मिलता है तो वे कभी शिकायत नहीं करते हैं; तब वे बराबरी वालों में प्रतिस्पर्द्धा के सिद्धान्त का वास्ता नहीं देते हैं। अपने से छोटी पूँजी को

निगल जाना वे अपना दिव्य अधिकार समझते हैं। मगर अपने से बड़ी पूँजी से वे सरकार द्वारा संरक्षण चाहते हैं। ऐसे में, हमारी अवस्थिति उनकी छोटी पूँजी की रक्षा की नहीं हो सकती है। हमारी अवस्थिति यह प्रचार करने की होनी चाहिए कि हम तमाम टुटपुंजिया वर्गों को भी यह बतायें कि पूँजीवाद के तहत उनकी यही नियति है। वे इससे बच नहीं सकते। केवल इस नियति को कुछ टाल सकते हैं। यही सच भी है। इसलिए हमारा प्रचार सर्वहारा अवस्थिति को अपनाने के लिए होना चाहिए।

बहरहाल, मोदी सरकार के दो वर्षों में उपरोक्त आर्थिक नीतियों के कारण आम मेहनतकश जनता को अभूतपूर्व महँगाई का सामना करना पड़ रहा है। इन दो वर्षों में ही रोज़गार सृजन में भारी कमी आयी है और साथ ही बेरोज़गारों की संख्या में भी खासा इज़ाफ़ा हुआ है। मज़दूरों के शोषण में भी तेज़ी से बढ़ोत्तरी हुई है क्योंकि मन्दी के दौर में मज़दूरों को ज़्यादा निचोड़ने के लिए जिस प्रकार के खुले हाथ और विनियमन की पूँजीपति वर्ग को ज़रूरत है, वह मोदी सरकार ने उन्हें देनी शुरू कर दी है। कृषि क्षेत्र भी भयंकर संकट का शिकार है। यह संकट एक पूँजीवादी संकट है। साथ ही, सरकारी नीतियों के कारण ही देश कई दशकों के बाद इतने विकराल सूखे से गुज़र रहा है। इन सभी कारकों ने मिलकर व्यापक मज़दूर आबादी और आम मेहनतकश जनसमुदायों के जीवन को नर्क बना दिया है। यही कारण है कि **मोदी सरकार ने हाफपैण्टिया ब्रिगेड को दो चीज़ों की पूरी छूट दे दी है: पहला, सभी शैक्षणिक, शोध व सांस्कृतिक संस्थानों को खाकी चड्ढीधारियों के नियंत्रण में पहुँचा दिया है ताकि देशभर में आम राय के निर्माण के प्रमुख संस्थान संघ परिवार के हाथ में आ जायें और दूसरा, देश भर में आम मेहनतकश अवाम के भीतर इस भयंकर जनविरोधी सरकार के प्रति विद्रोह की भावना न पनपे इसके लिए उन्हें दंगों, साम्प्रदायिक तनाव, गौरक्षा, घर-वापसी जैसे बेमतलब के मुद्दों में उलझाकर रखने के प्रयास जारी हैं।** यह रणनीति फिलहाल आंशिक तौर पर काम कर रही है। इसका एक कारण यह भी है कि क्रान्तिकारी वाम अपने कठमुल्लावाद और लकीर की फकीरी की अपनी प्रवृत्ति के कारण इसका कोई पुरज़ोर और कारगर जवाब नहीं दे पा रहा है। **लेकिन फिर भी ऐसी चालें लम्बी दूरी में कामयाब नहीं होती हैं। इस मामले में भी मोदी सरकार की ये चालें कामयाब नहीं हो पायेंगी और आने वाले समय में यह देश के इतिहास की सम्भवत: सबसे अलोकप्रिय सरकार साबित होगी। ऐसे में, सत्तासीन फासीवादी और ज़्यादा हताशा में जायेंगे और इतिहास बताता है कि हताश और असफल होते फासीवादियों से खतरनाक और कोई नहीं होता। इसलिए हम मोदी सरकार की बढ़ती अलोकप्रियता को देखकर तमाशबीनों की तरह ताली बजायेंगे, तो बुरी तरह फँसेंगे। बेहतर होगा कि हम मोदी सरकार के ज़रिये पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के विश्वव्यापी अवसान को जनसमुदायों के समक्ष स्पष्ट करें और यह भी स्पष्ट करें कि पूँजीवाद इतिहास का अन्त नहीं है।** विकल्प का प्रश्न ही आज का सबसे बड़ा प्रश्न है और हमारा भविष्य काफ़ी हद तक इस विकल्प के निर्माण पर निर्भर करता है। ●

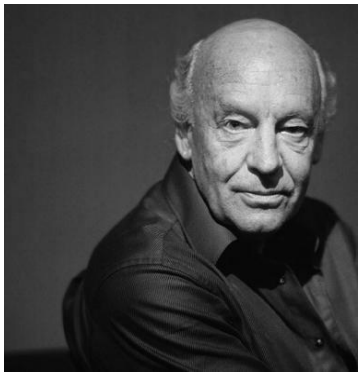

देशद्रोही कौन ?

"जिस धरती पर हर अगले मिनट एक बच्चा भूख या बीमारी से मरता हो, वहाँ पर शासक वर्ग की दृष्टि से चीज़ों को समझने की आदत डाली जाती है। लोगों को इस दशा को एक स्वाभाविक दशा समझने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। लोग व्यवस्था को देशभक्ति से जोड़ लेते हैं और इस तरह से व्यवस्था का विरोधी एक देशद्रोही अथवा विदेशी एजेण्ट बन जाता है। जंगल के कानूनों को पवित्र रूप दे दिया जाता है ताकि पराजित लोग अपनी हालत को अपनी नियति समझ बैठें।"

-एदुआर्दो ग़ालियानो (उरुग्वे, लातिन अमेरिका के महान जनपक्षधर साहित्यकार)

विश्व पटल पर

ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से बाहर जाना: साम्राज्यवादी संकट के गहराते भँवर का नतीजा

● शिशिर

24 जून को जब ब्रेक्ज़िट (ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से बाहर जाना) के लिए हुए जनमत संग्रह की गिनती अभी पूरी भी नहीं हुई थी, तभी से ब्रिटिश पाउण्ड का लड़खड़ाना शुरू हो चुका था। जब नतीजे आये तो उन्होंने ब्रिटेन ही नहीं बल्कि दुनिया के आर्थिक और राजनीतिक विश्व में एक भूकम्प ला दिया। 52 प्रतिशत लोगों ने यूरोपीय संघ से बाहर जाने के पक्ष में वोट किया। 48 प्रतिशत लोगों ने विरोध में। 1992 में हुए चुनावों के बाद इस जनमत संग्रह में सबसे ज्यादा वोटरों ने हिस्सा लिया। 72 प्रतिशत लोगों ने इस जनमत संग्रह में वोट किया। ब्रिटेन 1973 से यूरोपीय संघ का हिस्सा था, हालाँकि सत्रह वर्ष पहले बने यूरोज़ोन का हिस्सा ब्रिटेन नहीं बना था। इसके बावजूद, ब्रिटेन यूरोज़ोन की तीन बड़ी शक्तियों में से एक था। एकल बाज़ार की स्थापना से लेकर भूतपूर्व ईस्टर्न ब्लॉक के देशों को यूरोपीय संघ में शामिल करने और साथ ही यूरोपीय संघ को नवउदारवादी सहमति के अनुसार संरचनाबद्ध करने में ब्रिटेन की एक अग्रणी भूमिका रही थी। निश्चित रूप से, ब्रिटेन का राजनीतिक प्रभाव जर्मनी या फ्रांस जितना नहीं था, मगर वह यूरोपीय संघ की तीन बड़ी आर्थिक शक्तियों में से एक था, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता है।

ब्रेक्ज़िट के बाद राजनीतिक दुनिया में आये भूकम्प के नतीजे साम्राज्यवादी विश्व के लिए भयंकर हैं। 75 प्रतिशत से ज़्यादा ब्रिटिश सांसद यूरोपीय संघ में रहने के पक्षधर थे। वास्तव में 'यूनाइटेड किंगडम इण्डिपेण्डेंस पार्टी' और 'कंज़र्वेटिव पार्टी' के माइकल गोव और बोरिस जॉनसन जैसे कुछ नेताओं को छोड़ दिया जाय, तो कोई भी ब्रेक्ज़िट के पक्ष में नहीं था। साथ ही, 'बैंक ऑफ इंग्लैण्ड', 'आईएमएफ' से लेकर यूरोपीय संघ के अधिकारी तक इसके विरोध में थे। यहाँ तक कि 'लेबर पार्टी' के वाम धड़े की नुमाइन्दगी करने वाले और फिलहाल उसके नेता जेरेमी कॉर्बिन भी यूरोपीय संघ को कोई बहुत अच्छा विकल्प न मानते हुए भी संघ में बने रहने के पक्षधर थे। इसके बावजूद, वोटरों के बहुलांश ने संघ को छोड़ने के लिए वोट दिया। इसने ब्रिटेन के समूचे बुर्जुआ राजनीतिक वर्ग को चौंका दिया है।

इस आश्चर्यजनक नतीजे ने बारीक सन्तुलन पर टिकी क्षणभंगुर राजनीतिक यथास्थिति को डगमगा दिया है और भविष्य में इसके दूरगामी परिणाम सामने आने वाले हैं। तात्कालिक नतीजा तो यही है कि डेविड कैमरन को इस्तीफा देना पड़ रहा है। उनकी जगह कोई ऐसा टोरी नेता लेगा जो शायद जनता द्वारा चुना भी न गया हो। स्कॉटलैण्ड में बहुसंख्यक वोटरों ने यूरोपीय संघ में रहने के लिए वोट किया था, इसलिए 'स्कॉटिश नेशनल पार्टी' की नेता निकोला स्टयर्जन ने कहा है कि स्कॉटलैण्ड ब्रिटेन से अलग होने के लिए दूसरा जनमत संग्रह करवा सकता है। आयरलैण्ड की पार्टी 'सीनफिन' ने भी आयरलैण्ड और 'रिपब्लिक ऑफ नॉर्दर्न आयरलैण्ड' के एकीकरण की बात की है। आयरलैण्ड पहले ही यूरोपीय संघ का हिस्सा है और 'नॉर्दर्न' आयरलैण्ड में बहुसंख्या ने संघ में रहने के लिए वोट दिया है। स्पेन ने जिब्राल्टर के यूनाइटेड किंगडम के साथ संयुक्त प्रशासन की माँग की है क्योंकि वहाँ की ब्रिटिश आबादी के 96 प्रतिशत ने संघ में रहने के लिए वोट दिया है। **ब्रिटेन के इस जनमत संग्रह के नतीजे सामने आने के बाद नीदरलैण्ड और फ्रांस तक में यूरोपीय संघ से बाहर जाने के लिए जनमत संग्रह की बातें होने लगीं हैं। ऐसे में, एक 'डॉमिनो इफेक्टि' का डर भी साम्राज्यवादी विश्व के सरदारों को सता रहा है। क्योंकि सिर्फ़ ब्रिटेन के बाहर जाने के तात्कालिक आर्थिक नतीजों ने साम्राज्यवादी अर्थशास्त्रियों की साँस बनियान में ही अटका दी है। जनमत संग्रह के नतीजों के तुरन्त बाद ही पाउण्ड तीन दशकों में डॉलर के समक्ष अपने निम्नतम स्तर पर चला गया है।** यह लेख लिखे जाने तक दुनिया भर के स्टॉक एक्सचेंज बुरी तरह से डगमगाये हुए हैं।

ब्रिटेन के यूरोपीय संघ से बाहर जाने पर न सिर्फ़ नवउदारवादी विशेषज्ञ रो रहे हैं, बल्कि कई सामाजिक-जनवादी, वामपन्थी अर्थशास्त्री भी रो रहे हैं। नवउदारवादी विशेषज्ञ इसलिए रो रहे हैं क्योंकि वे भूमण्डलीकरण और नवउदारवाद के एक मॉडल के तौर पर यूरोपीय संघ के बिखराव पर दुखी हैं। तमाम सामाजिक-जनवादी और वामपन्थी इसलिए रो रहे हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि बाहर जाने का वोट वास्तव में नस्लवाद के पक्ष में और शरणार्थियों व प्रवासियों के विरुद्ध

दिया गया वोट है। तमाम 'सेण्ट्रिस्ट' राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री उपरोक्त दोनों ही कारणों से रो रहे हैं। ऐसे में, यह समझना ज़रूरी है कि वामपन्थी क्रान्तिकारियों को इस घटना को किस रूप में देखना चाहिए और इस पर क्या अवस्थिति अपनानी चाहिए। ज़ाहिर है, कि जो भूमण्डलीकरण के मॉडल की असफलता के उदाहरण के रूप में यूरोपीय संघ के बिखराव को देख रहे हैं और इस पर छाती पीट रहे हैं, उनके बारे में ज़्यादा शब्द ख़र्च करने का कोई फ़ायदा नहीं है। सही अवस्थिति को स्पष्ट, करने के लिए हमें तमाम यूरोपीय सामाजिक-जनवादियों और संसदीय वामपन्थियों की अवस्थिति की पड़ताल करने की दरकार है।

ज़्यादातर वामपन्थियों ने जनमत संग्रह के नतीजों को नस्लवाद की विजय के रूप में व्याख्यायित किया है। लेकिन वास्तव में इन नतीजों को नस्लवाद, ज़ेनोफोबिया और राष्ट्रवाद की विजय पर अपचयित करना एक भारी भूल और नादानी भरा राजनीतिक अतिसरलीकरण है। यह वर्ग विश्लेषण को छोड़ने के समान है। ऐसा विश्लेषण यह नहीं समझ पाता कि जब भी समाज में मौजूद अन्तरविरोध सही राजनीतिक अभिव्यक्ति नहीं पाते, तो फिर वे प्रतिक्रियावादी विचारधारात्मक व राजनीतिक अभिव्यक्ति पाते हैं। निश्चित तौर पर, साम्राज्यवादी संकट, प्रवासी संकट (जो कि साम्राज्यवादी संकट की तमाम अभिव्यक्तियों में से ही एक है), बेरोज़गारी, बेघरी और ग़रीबी के संकट के जवाब में यूरोपीय संघ में रहने या उसे छोड़ने के विकल्प अपने आप में विकल्प थे ही नहीं। लेकिन जब भी पूँजीवादी संकट के समाधान का सही प्रगतिशील रास्ता सही रूप में प्रस्तुत नहीं होगा, तो दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद और साथ ही वामपन्थी लोकरंजकतावाद (जो कि रो-गाकर दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद के ही पीछे घिसटता है) हावी होगा। संघ को छोड़ने के जनता के फैसले के पीछे कुछ ऐसी ही स्थिति बनी हुई थी।

ज़्यादातर वामपन्थियों ने जनमत संग्रह के नतीजों को नस्लवाद की विजय के रूप में व्याख्यायित किया है। लेकिन वास्तव में इन नतीजों को नस्लवाद, ज़ेनोफोबिया और राष्ट्रवाद की विजय पर अपचयित करना एक भारी भूल और नादानी भरा राजनीतिक अतिसरलीकरण है। यह वर्ग विश्लेषण को छोड़ने के समान है। ऐसा विश्लेषण यह नहीं समझ पाता कि जब भी समाज में मौजूद अन्तरविरोध सही राजनीतिक अभिव्यक्ति नहीं पाते, तो फिर वे प्रतिक्रियावादी विचारधारात्मक व राजनीतिक अभिव्यक्ति पाते हैं।

जैसा कि हमने कहा ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय संघ को छोड़ने के वोट से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता है कि जनता ने नस्लवाद, राष्ट्रवाद और प्रवासी-विरोध को जनादेश दे दिया है। यह वास्तव में साम्राज्यवादी यूरोपीय संघ की आर्थिक नीतियों के विरुद्ध आम मेहनतकश जनता के रोष की अभिव्यक्ति है। यह शासन करने वाले राजनीतिक कुलीन वर्ग और मुनाफ़े की हवस में अन्धे कारपोरेट घरानों के विरुद्ध आम मेहनतकश जनसमुदायों का विद्रोह है। अगर हम वोटिंग के आँकड़ों को ग़ौर से देखें तो यह बात साफ हो जाती है। मज़दूर आबादी के करीब 66 प्रतिशत हिस्से ने यूरोपीय संघ को छोड़ने के पक्ष में वोट किया। प्रशासनिक, प्रबन्धकीय नौकरियाँ करने वाले मध्यवर्ग के करीब 43 प्रतिशत ने संघ को छोड़ने का पक्ष लिया। एशियाई मूल के करीब 33 प्रतिशत से ज्यादा लोगों ने यूरोपीय संघ को छोड़ने के पक्ष में मत दिया। वहीं 25 प्रतिशत से ज्यादा काले लोगों की आबादी ने भी यूरोपीय संघ को छोड़ने पर हामी भरी। स्पष्ट है कि गैर-श्वेत आबादी के अच्छे -खासे हिस्से ने यूरोपीय संघ को छोड़ने की राय ज़ाहिर की है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिन जनसमुदायों या आयसमूहों या जातीयसमूहों की हम बात कर रहे हैं, उनका अधिकांश हिस्सा मेहनतकश वर्ग से आता है। ऐसे में, इन वर्गों ने और विशेष तौर पर एशियाई या काले लोगों के अच्छे-खासे हिस्से ने यूरोपीय संघ को छोड़ने के लिए क्यों वोट किया? केवल इसी तथ्य से स्पष्ट है कि इस जनमत को अतिसरलीकृत कर नस्लवाद या राष्ट्रवाद के पक्ष में दिया गया वोट नहीं कहा जा सकता है।

यूरोपीय संघ शुरू से ही एक नवउदारवादी निकाय रहा है। कहने के लिए यह द्वितीय विश्वयुद्ध के विनाश के मद्देनज़र यूरोप को राजनीतिक रूप से एकजुट करने के लिए स्थापित किया गया था। निश्चित तौर पर यह भी एक कारण हो सकता है। लेकिन इसकी ऐतिहासिक भूमिका यूरोपीय बड़ी पूँजी के हितों और आवश्यकताओं के अनुसार नीतियों को सूत्रबद्ध करना और उनका कार्यान्वयन करना और नवउदारवादी भूमण्डलीकरण की नीतियों को लागू करना ज़्यादा रहा है। क्या यह भूला जा सकता है कि इसी यूरोपीय संघ ने लम्बे समय से अमेरिकी साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार की भूमिका निभायी है और पूर्वी ब्लॉक के विघटन के बाद उसे साम्राज्यववादी वर्चस्व के मातहत लाने में महती भूमिका निभायी थी; क्या हम भूल सकते हैं कि 2007 की मन्दी की शुरुआत के बाद से यूनानी जनता को थोपी गयी किफायतसारी की नीतियों के तहत कुचलने का काम इसी यूरोपीय संघ ने किया था; फ्रांस में ओलांदे सरकार के मज़दूरों और छात्रों पर हमले का भी पुरज़ोर समर्थन इसी यूरोपीय संघ ने किया है; यह भी याद रखने की

ज़रूरत है कि वित्तीय बड़ी पूँजी की मुनाफ़े की हवस से पैदा हुई मन्दी की कीमत जनता से वसूलने और बैंकों और पूँजीपतियों को मन्दी के भँवर से निकालने के लिए जनता के पैसों पर बचाव पैकेज देने का कार्य भी इसी यूरापीय संघ ने किया है; मध्यपूर्व और उत्तरी अफ्रीका में साम्राज्यवादी लूट और सैन्य हस्तक्षेप और साथ ही इज़रायली हत्यारों को भी खुला या प्रच्छन्न समर्थन देने का काम यूरोपीय संघ करता रहा है; सीरिया में और लीबिया में आज जो हालात हैं, उसके लिए यूरोपीय संघ अमेरिका से कम ज़िम्मेदार नहीं है; अमेरिका के साथ धुर साम्राज्यवादी और जनविरोधी ट्रांसएटलाण्टिक ट्रेड एण्ड इन्वेस्टमेण्टल पार्टनरशिप पर हस्ताक्षर का प्रयास भी यही यूरोपीय संघ कर रहा है। यूरोपीय संघ वास्तव में राजनीतिक एकीकरण और यूरोपीय उदारवाद के नुमाइन्दगी के नाम पर वास्तव में यूरोपीय साम्राज्यवादी पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करता रहा है। इस प्रक्रिया में इसने दुनिया भर में यूरोपीय बड़े पूँजीपति वर्ग विशेष तौर पर जर्मन बड़े पूँजीपति वर्ग की महत्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व तो किया ही है, साथ ही, अमेरिकी साम्राज्यवाद के अपराधों में सह-अपराधी की भूमिका भी निभायी है। इसके अलावा, इसने स्वयं यूरोप के आम मेहनतकश लोगों को लूटने में साम्राज्यवादी पूँजी का पूरा सहयोग और समर्थन किया है। विशेष तौर पर, दक्षिण और पूर्वी यूरोप के तमाम देशों में यूरोपीय संघ का पूँजीवादी-साम्राज्यवादी चरित्र खुलकर सामने आ चुका है।

ऐसे में, ब्रिटेन में व्यापक मज़दूर आबादी द्वारा यूरोपीय संघ को ब्रसेल्स में बैठे तकनोशाह कुलीन वर्ग की तानाशाही के उपकरण के रूप में देखा जाता है, जो कि खुले तौर पर बड़ी वित्तीय पूँजी की सेवा का कार्य करता है। यही कारण है कि मज़दूर आबादी के अच्छे-खासे हिस्से ने यूरोपीय संघ से बाहर जाने के लिए वोट किया। निश्चित तौर पर यह एक नकारात्मक प्रतिक्रियात्मक कदम है और इस कदम में अपने आप में कुछ प्रगतिशील नहीं दिखायी पड़ता। यह भी सच है कि साम्राज्यवादी व्यवस्था द्वारा विशेष तौर पर 2007 में मन्दी की शुरुआत के बाद से जो अनिश्चितता और असुरक्षा का माहौल पैदा हुआ है, उसमें ब्रिटिश और साथ ही अन्य यूरोपीय देशों का मज़दूर वर्ग गुस्से में है। यह गुस्सा कई बार व्यवस्था-विरोधी होने के साथ ही साथ नस्लवाद और राष्ट्रवाद जैसे वायरसों से भी ग्रस्त होता है। ब्रेक्ज़िट वोट में भी नस्लवाद के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। विशेष तौर पर, मन्दी के दौर में पैदा अनिश्चितता में और किसी वामपन्थी क्रान्तिकारी विकल्प की अनुपस्थिति में जनता का व्यवस्था विरोधी गुस्सा कई बार दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद और फासीवाद तथा कट्टरपन्थ द्वारा उछाले जा रहे जुमलों के प्रभाव में भी आ जाता है। ब्रेक्ज़िट वोट के ठीक पहले के सप्ताहों में ऐसा हो भी रहा था। दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी जैसे कि निजेल फैरेज (यूकेआईपी का नेता) यह दावा कर रहा था कि संघ की सदस्यता के कारण ब्रिटेन अपनी राष्ट्रीय स्वास्थ्य व्यवस्था पर 350 मिलियन पाउण्ड खर्च नहीं कर पा रहा है। वोट के ठीक बाद उसने बोला कि यह आँकड़ा सही नहीं है। यानी, जनता के जिस हिस्से ने यह सोच कर यूरोपीय संघ से निकलने का वोट डाला था कि इससे उसे सस्ती, या नि:शुल्क राजकीय स्वास्थ्य सेवा मिलेगी, उसके साथ एक भारी धोखा हुआ। साथ ही, दक्षिणपन्थी टोरी नेता बोरिस जॉनसन वोट के पहले यह दावा कर रहा था कि यूरोपीय संघ की सदस्यता छोड़ने के बाद प्रवासी और शरणार्थी संकट का समाधान हो जायेगा। लेकिन जनमत संग्रह के ठीक बाद जॉनसन ने कहा कि ऐसा कुछ नहीं होने वाला है और वास्तव में प्रवासी ब्रिटेन आते रहेंगे, और इस मामले में ब्रिटेन दिल से यूरोपीय बना रहेगा। स्पष्ट है कि पूँजीपति वर्ग को हमेशा ही प्रवासियों का सस्ता और अरक्षित श्रम चाहिए होता है। ऐसे में, एक ओर प्रवासियों के मुद्दे को लेकर पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग को बाँटता है और वहीं दूसरी ओर वह प्रवासियों पर पूरी तरह रोक भी नहीं लगाता; बस उन्हें तरह-तरह की बाधाएँ लगाकर और ज्यादा अरक्षित बनाता है। इस प्रकार प्रवासियों का आगमन पूँजीपति वर्ग के लिए राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही तरह से उपयोगी होता है।

क्रान्ति का विज्ञान बताता है कि मज़दूर वर्ग अपने दिमाग़ में अक्सर कई प्रकार के अन्तरविरोधी विचारों का एक मिश्रण रखे रहता है। इनमें से कुछ मज़दूर वर्गीय सचेतन राजनीतिक विचार होते हैं, जैसे कि वर्ग एकजुटता और पूँजीवाद-विरोध का विचार। लेकिन साथ ही इनमें कई बार प्रतिक्रियावादी विचार भी मिश्रित होते हैं, जो कि मज़दूर वर्ग समाज से ग्रहण करता है और जो कई बार उसी पूँजीवादी विचारधारा को प्रतिबिम्बित कर रहा होता है, जिसका प्रभाव स्वयं मज़दूर वर्ग पर भी होता है। यह विचारधारा मज़दूरों को भी परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करते वैयक्तिक नागरिकों में तब्दील करती है, जो कि नौकरियों और संसाधनों के लिए आपस में संघर्ष कर रहे होते हैं। तमाम अन्तरविरोधी विचारों का यह मिश्रण संकटकालीन क्षणों में क्रान्तिकारी दिशा में भी मोड़ा जा सकता है और प्रतिक्रियावादी दिशा में भी मोड़ा जा सकता है। निर्भर इस बात पर करता है कि क्रान्ति के अभिकर्ता ज्यादा तैयार हैं, या फिर प्रतिक्रिया के।

आज वामपन्थियों का एक हिस्सा भी ब्रिटेन में दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद का जवाब एक किस्म के वामपन्थी लोकरंजकतावाद के ज़रिये देने का प्रयास कर रहा है। जबकि सच्चाई यह है कि इस पद्धति से वास्तव में दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद ही मज़बूत होता है। मिसाल के तौर पर, प्रवासियों के प्रश्न को एक समस्या के तौर

पर देखना कई वामपन्थियों को दक्षिणपन्थियों के खेमे में ले जाकर खड़ा कर देता है। कई उदारवादियों और वामपन्थियों ने दबे स्वर में कई बार स्वीकार किया कि शरणार्थी समस्या व प्रवासी समस्या वास्तव में एक संकट पैदा कर रही है। साम्राज्यवाद से अलग करके शरणार्थी या प्रवासी समस्या को देखने का यह नज़रिया अन्ततः जनता के समक्ष दक्षिणपन्थी विचारों को मज़बूती प्रदान करता है। वास्तव में यही मौका है कि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट यूरोपीय संघ के विरुद्ध जनता के गुस्से के विस्फोट को सही दिशा दें और इसे साम्राज्यवाद और पूँजीवाद विरोधी जनान्दोलनों की ज़मीन बनायें।

ग़ौरतलब है कि 2007 के संकट के बाद से तमाम यूरोपीय देशों में जनता का सभी प्रमुख चुनावी पार्टियों पर से भरोसा उठता जा रहा है। स्पेन में दोनों प्रमुख पार्टियों के लिए समर्थन 50 प्रतिशत से नीचे गिर चुका है; सिरिज़ा की नौटंकी सामने आने के बाद ऐसे ही हालात यूनान में भी पैदा हो रहे हैं; बाकी यूरोपीय देशों में से भी तमाम देशों में ऐसे ही हालात पैदा हो रहे हैं। ऐसे में, दक्षिणपन्थी पार्टियाँ जनता के गुस्से को पूँजीवादी लूट और साम्राज्यवाद पर से हटाकर शरणार्थियों और प्रवासियों पर डालने का प्रयास कर रही हैं। **क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों को दरकार है कि वे इसके जवाब में यूरोपीय संघ के समर्थन करने के उदारवादी ट्रैप में न फँसें। उल्टे इस पूँजीवादी-साम्राज्यवादी संकट के बरक्स उन्हें यूरोपीय संघ की एक क्रान्तिकारी आलोचना पेश करते हुए समूची व्यवस्था की एक आलोचना पेश करनी चाहिए। उन्हें यूरोपीय संघ की आलोचना को दक्षिणपन्थी और फासीवादी राजनीति के लिए छोड़ नहीं देना चाहिए और उदारवाद और सामाजिक-जनवाद की शरण नहीं लेनी चाहिए। बल्कि इस मौके पर पूरी पूँजीवादी व्यवस्था की असलियत को जनता के सामने साफ करने का ज्यादा उपयुक्त अवसर है।** इस अवसर का लाभ उठाते हुए क्रान्तिकारी वाम को यूरोपव्यापी क्रान्तिकारी वाम के पुनरुत्थान की जमीन तैयार करनी चाहिए।

जो भी हो **यूरोपीय संघ से बाहर जाने के ब्रिटेन के फैसले ने साम्राज्यवादी संकट के एक नये दौर की शुरुआत की है। आर्थिक संकट ने अपने आपको राजनीतिक तौर पर अभिव्यक्त किया है और यह राजनीतिक अभिव्यिक्ति आने वाले समय में पहले से जारी आर्थिक संकट को भी और ज्यादा गहरा बनायेगी। जैसा कि माओ ने कहा था, 'सूर्य के नीचे हर चीज़ भयंकर अराजकता में है; यह एक शानदार स्थिति है।'** ●

आशावाद

तूफ़ान है
और जड़ों तक काँप रहा है पेड़।

लेकिन उसकी डाल पर बैठे
कवि के लिए
भविष्य उजला है
क्योंकी वह पेड़ नहीं
उसका काँपना नहीं
तूफ़ान नहीं
बल्कि पत्तों का हरापन
देख रहा है।

-वेणु गोपाल

नाज़िम हिक़मत की लम्बी कविता का अंश

'तुम्हारे हाथ और उनके झूठ'

तुम्हारे हाथ
पत्थरों जैसे मज़बूत
जेलखाने की धुनों जैसे उदास
बोझा खींचने वाले जानवरों जैसे भरी-भरकम
तुम्हारे हाथ जैसे भूखे बच्चों के तमतमाये चेहरे
तुम्हारे हाथ
शहद मक्खियों जैसे मेहनती और निपुण
दूध भरी छातियों जैसे भारी
कुदरत जैसे दिलेर तुम्हारे हाथ,
तुम्हारे हाथ खुरधरी चमड़ी के नीचे छिपाये अपनी
दोस्ताना कोमलता
दुनिया गाय-बैलों के सींगों पर नहीं टिकी है
दुनिया को ढोते हैं तुम्हारे हाथ।

-अनुवाद : सुरेश सलिल

विमर्श

राष्ट्रवाद : एक ऐतिहासिक परिघटना का इतिहास और वर्तमान

● कात्यायनी

आदमी ने जीवन में चाहे जितने महान काम किये हों, मर जाने के बाद लाश यदि घर में रखी रहे तो सड़कर बीमारियाँ और बदबू ही फैलाती है। राष्ट्रवाद आज के समय में एक ऐसी ही लाश बन चुका है। आज राष्ट्रवाद हर मायने में अन्धराष्ट्रवाद का पर्यायवाची बन चुका है। जिन्गोइज़्म, ज़ायनिज़्म, विस्तारवाद, नस्लवाद सभी राष्ट्रवाद का लबादा पहनकर ही अपने रक्तपातपूर्ण मानवद्रोही अभियानों पर निकलते हैं।

राष्ट्र और राष्ट्रवाद का जन्म मण्डी में हुआ (जैसे जनवाद का जच्चाघर कारखाना है)। ये ऐतिहासिक तौर पर पूँजीवादी घटनाएँ हैं। क्लासिकी पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों के दौरान ईश्वर के प्रतिनिधि राजा के प्रति निष्ठा के बजाय पूरे जनसमूह के राष्ट्र के प्रति निष्ठा, राष्ट्रीय भावना, राष्ट्र के चुने हुए प्रतिनिधियों की सत्ता आदि के नारे देते समय राष्ट्रवाद की निश्चय ही ऐतिहासिक तौर पर एक सकारात्मक भूमिका थी। प्राक् पूँजीवादी अवस्थाओं में एक नस्लीय या जनजातीय परिघटना के रूप में राष्ट्रीयता मौजूद थी जिसकी पाँच बुनियादी अभिलाक्षणिकताएँ थीं: एक स्थिर, निरन्तरतापूर्ण समुदाय, एक विशिष्ट भूभाग, आर्थिक साहचर्य, एक साझी भाषा और एक सामूहिक चरित्र। एक विशेष युग की विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में इसने सकारात्मक राजनीतिक स्वरूप ग्रहण किया - यानी सामन्तवाद के विरुद्ध उदीयमान पूँजीपति वर्ग के संघर्षों के दौरान। आर्थिक बुनियाद की ऐतिहासिक पड़ताल से ज्ञात होता है कि एक समांगी जनसंख्या और कमोबेश समान माल आवश्यकताओं वाला राष्ट्रीय बाज़ार उद्योगों की बुनियादी आवश्यकता थी जिसने राष्ट्र और राष्ट्रवाद को जन्म दिया। पश्चिमी यूरोप में राष्ट्र-राज्य विकसित हुए जबकि रूस और पूर्वी यूरोप में बहुराष्ट्रीय राज्य। यूरोप अमेरिका में पूँजीवादी युग की निर्णायक विजय होते ही राष्ट्र-राज्य अपने बाज़ारों के विस्तार और उपनिवेशों की छीनाझपटी के लिए एक-दूसरे से लड़ने लगे और पूँजीपति राष्ट्रवाद की भावना का इस्तेमाल एक राष्ट्र की जनता को दूसरे राष्ट्र की जनता के विरुद्ध युद्ध में झोंकने के लिए करने लगे। विश्व के पूँजीवादी भूभाग में राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक भूमिका समाप्त होने लगी।

साम्राज्यावाद के युग में कच्चे माल की लूट, उत्पादों के बाज़ार और वित्तीय पूँजी के निर्यात के लिए संरक्षित क्षेत्रों (उपनिवेशों) की छीनाझपटी अपने चरम पर जा पहुँची जिसका परिणाम विनाशकारी पहले विश्वयुद्ध के रूप में सामने आया। लेनिन ने उसी समय यह सूत्रीकरण दिया कि यूरोपीय देशों के सर्वहारा और आम मेहनतक़श जनता को बाज़ारों की छीनाझपटी की इस रक्तपातपूर्ण लड़ाई में अपने-अपने देशों के पूँजीपति वर्ग की ओर से लड़ते हुए दूसरे देशों के अपने ही मज़दूर भाइयों को मौत के घाट उतारने का काम कत्तई नहीं करना चाहिए और साम्राज्यवादी पूँजीपति जब आपसी लड़ाई में उलझे हों, तो इसका लाभ उठाकर आम बग़ावत कर देनी चाहिए और समाजवादी क्रान्ति की कोशिश करनी चाहिए। इसी कार्यदिशा पर अमल करते हुए रूस में बोल्शेविकों ने अक्टूबर क्रान्ति सम्पन्न की जबकि जो यूरोपीय सामाजिक-जनवादी पार्टियाँ अन्धराष्ट्रवाद की लहर में बह गयीं, वे पतित होकर बुर्जुआ संसदीय पार्टियों की भाई-बिरादर बन गयीं।

लेकिन साम्राज्यवाद की सदी (बीसवीं सदी) में भी राष्ट्रवाद दुनिया के उन भूभागों में एक सकारात्मक, प्रगतिशील शक्ति बना रहा, जहाँ के देश उपनिवेश या नवउपनिवेश थे और जहाँ राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के कार्यभार इतिहास के एजेण्डे पर थे। ऐसे देशों में राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद विरोध का पर्याय बन गया। चूँकि ज़्यादातर ऐसे देशों में साम्राज्यवाद ही प्राक पूँजीवादी (प्राय: सामन्ती या अर्द्धसामन्ती) भूमि-सम्बन्धों का पोषक और संरक्षक था, इसलिए राष्ट्रीय (यानी साम्राज्यवाद विरोधी) कार्यभार जनवादी (सामन्तवाद-विरोधी) कार्यभार

के साथ अविभाज्यत: जुड़ गया। साम्राज्यवाद की अवस्था में क्रान्तियों के तूफानों का केन्द्र पश्चिम से खिसककर पूरब में आ चुका था। एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के उपनिवेश, अर्द्धउपनिवेश और नाम मात्र स्वतंत्रता वाले देश ही अब विश्व पूँजीवाद की निर्बलतम कड़ी थे और क्रान्ति के तूफानों के सम्भावित केन्द्र बन गये थे। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की एक के बाद एक, विजय का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह अविराम 1970 के दशक तक जारी रहा।

एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के ज़्यादातर देशों में, कहीं हथियारबन्द संघर्ष के रास्ते, कहीं व्यापक दीर्घकालिक जनान्दोलनों के रास्ते, तो कहीं 'समझौता-दबाव-समझौता' की रणनीति का इस्तेमाल करते हुए देशी बुर्जुआ सत्ताएँ अस्तित्व में आयीं। लगभग इन सभी देशों के बुर्जुआ वर्ग ने कहीं थोड़ी ज़्यादा तेज़ गति से, तो कहीं धीमी गति से, कहीं ज़्यादा रैडिकल ढंग से, तो कहीं ज़्यादा समझौतों और रियायतों के साथ, ऊपर से, गैर क्रान्तिकारी ढंग ('प्रशियाई मार्ग' से) से बुर्जुआ भूमि सुधारों को लागू किया और पुराने भूस्वामियों को तबाह कर देने के बजाय उन्हें बुर्जुआ भूस्वामियों-उद्योगपतियों की कतारों में व्यवस्थित हो जाने का भरपूर अवसर दिया। यह बिस्मार्क और कमाल अतातुर्क द्वारा अपनाये गये रास्ते का ही नया संस्करण था। भूमि सम्बन्धों का यह पूँजीवादी रूपान्तरण राष्ट्रीय घरेलू बाज़ार के निर्माण के लिए ज़रूरी था। इस तरह जनवादी क्रान्ति का सर्वोपरि बुनियादी कार्यभार इन देशों में एक क्रमिक प्रक्रिया में मूलत: और मुख्यत: पूरा हो गया।

नवस्वाधीन देशों की बुर्जुआ सत्ताओं में से कुछ ने शुरुआती कुछ वर्षों तक साम्राज्यवादी देशों के प्रति कुछ अधिक रैडिकल तेवर अपनाये (जैसे बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयकरण किये), जबकि कुछ ने शुरू से ही अधिक नरम और समझौतापरस्त रुख अपनाया। कुछ ने औद्योगीकरण के लिए ('इम्पोर्ट-सब्सटिट्यूशन इण्डस्ट्रियलाइजेशन') पर अधिक बल दिया। यह सबकुछ देशी पूँजीपतियों की अपनी पूँजी की ताकत और देश विशेष की उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के हिसाब से तय हो रहा था। लेकिन गौरतलब बात यह थी कि इनमें से किसी भी देश के पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के साथ निर्णायक विच्छेद नहीं किया। यह काम केवल उन्हीं देशों में हुआ जहाँ राष्ट्रीय मुक्ति सर्वहारा के नेतृत्व में क्रान्ति करके हासिल की गयी थी, जैसे, चीन, दक्षिण कोरिया, वियतनाम आदि। सभी पूर्वऔपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवादी पूँजी की पैठ बनी रही, फ़र्क सिर्फ़ यह था कि अब ये देश किसी एक साम्राज्यवादी देश के संरक्षित बाज़ार नहीं रह गये थे। इन देशों के पूँजीपति वर्ग के हाथों में यह क्षमता आ गयी थी कि वे कई साम्राज्यवादी देशों से मोल-तोल कर सकें और अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठा सकें।

उपनिवेशवाद के दौर की समाप्ति सुनिश्चित होने के बाद भी अमेरिका ने लातिन अमेरिका, एशिया और अफ्रीका के कई देशों में कठपुतली सरकारों या सैनिक जुण्टाओं की निरंकुश सत्ता बैठाकर उन्हें पूरी तरह अपने अँगूठे के नीचे रखना चाहा, लेकिन नवउपनिवेशवाद का यह प्रयोग अल्पकालिक रहा। मुख्यत: वर्ग-संघर्षों के दबाव ने कालान्तर में ऐसे सभी देशों में बुर्जुआ जनवादी चुनावों और बुर्जुआ संविधान की स्थापना के लिए बाध्य कर दिया, चाहे यह बुर्जुआ जनवाद जितना भी सीमित, विकृत और खण्डित क्यों न हो। उत्पादक शक्तियों का सापेक्षिक पिछड़ापन, साम्राज्यवादी शक्तियों पर निर्भरता और साम्राज्यवाद का विश्व ऐतिहासिक दौर - ये तीन उपादान एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के देशों में बुर्जुआ जनवाद की सीमाओं और विकृतियों को गढ़ने वाले बुनियादी कारक थे।

इन सभी देशों में साम्राज्यवाद से आज़ादी और उसपर निर्भरता के जैविक समीकरणों का एक व्यापक, वैविध्यपूर्ण वर्णक्रम बनता था। सबकुछ इस बात पर निर्भर करता था कि किस देश की उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर क्या है, अर्थतंत्र कितना वैविध्यपूर्ण है, बुनियादी और अवरचनागत उद्योगों का विकास कितना हुआ है और वहाँ के पूँजीपति वर्ग की पूँजी की ताकत कितनी है। **मुख्य परिदृश्य यह बनता है कि एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के इन सभी देशों के पूँजीपति विश्व स्तर पर निचोड़े गये अधिशेष की भागीदारी में सबसे निचले पायदान पर हैं, जबकि ज़्यादातर मामलों में, अपने देश के स्तर पर निचोड़े गये अधिशेष के वे बड़े हिस्सेदार हैं। इनमें से जो पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद पर सर्वाधिक निर्भर और सर्वाधिक कमज़ोर है, वह भी दलाल नहीं है। ये सभी साम्राज्यवाद के जूनियर पार्टनर हैं और इनकी पार्टनरशिप की प्रकृति इनकी पूँजी की कम या अधिक ताकत के हिसाब से तय होती है।**

कुल मिलाकर, 1970 के दशक तक, कथित तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में राष्ट्रीय जनवाद के कार्यभार पूरे हो चुके थे। जो कुछ बचा-खुचा था, वह 1980 के दशक में पूरा हो गया। अपवादों और अल्पकालिक विचलनों को छोड़कर, इन भूभागों में भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादी रूपान्तरण का काम मूलत: और मुख्यत: पूरा हो चुका था और संविधान सम्मत चुनी हुई सरकारों का शासन था। यानी, विश्व इतिहास के रंगमंच पर, इस समय जिस रूप में सम्भव था, उस रूप में बुर्जुआ जनवाद का कार्यभार पूरा हो चुका था। अब जनवाद के लिए संघर्ष का मतलब था- जनता के जनवादी अधिकारों के लिए बुर्जुआ जनवाद के दायरे में संघर्ष करते हुए और बुर्जुआ जनवाद के ढकोसलों-सीमाओं को उजागर करते हुए

जनसमुदाय को समाजवादी जनवाद के क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए तैयार करना। लेकिन राष्ट्रवाद के नारे का अब तीसरी दुनिया के देशों के सर्वहारा और मेहनतक़श जनता के लिए कोई प्रगतिशील निहितार्थ नहीं रह गया था। इन देशों का पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद से जितनी आज़ादी हासिल कर सकता था, उतनी वह कर चुका था और विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में साम्राज्य़वादियों के जूनियर पार्टनर के रूप में व्यवस्थित हो चुका था। उसके साम्राज्यवादियों से अन्तरविरोध अब केवल अधिशेष के बँटवारे में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए दबाव बनाने तक ही सीमित होकर रह गये थे। राष्ट्रीय मुक्ति के दौर का रणनीतिक संश्रय टूट चुका था। पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा अब जनता का मित्र नहीं रह गया था। साम्राज्यवाद के साथ उसके अन्तरविरोध अब अशत्रुतापूर्ण हो गये थे और जनता के साथ शत्रुतापूर्ण हो गये थे।

ऐसी स्थिति में राष्ट्रवाद का नारा इन देशों के सर्वहारा और आम मेहनतक़श जनसमुदाय के लिए अप्रासंगिक हो चुका है। वह अपनी ऐतिहासिक अर्थवत्ता और प्रासंगिकता खोकर पूरी तरह से प्रतिक्रियावादी हो चुका है। वैसे भी, अपनी वर्ग प्रकृति से सर्वहारा वर्ग राष्ट्रवादी नहीं बल्कि अन्तरराष्ट्रीयतावादी वर्ग होता है। उसका ऐतिहासिक मिशन एक समाजवादी विश्व का निर्माण करना और फ़िर कम्युनिज्म की दिशा में आगे बढ़ना है। फिर भी समाजवादी क्रान्तियाँ यदि देश के स्तर पर संगठित होती हैं तो इसलिए कि बुर्जुआ राज्यसत्ताएँ देशों के स्तर पर संगठित हैं। बीसवीं शताब्दी में उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में एक ओर तो औद्योगिक विकास के साथ सर्वहारा वर्ग पैदा हो चुका था, दूसरी ओर ये देश गुलाम थे और इनमें प्राक् पूँजीवादी भूमि सम्बन्ध कायम थे। अत: राष्ट्रीय जनवाद के कार्यभारों को पूरा करके ही सर्वहारा वर्ग समाजवाद के कार्यभार को हाथ में ले सकता था। ज़मीन के मालिकाने और गुलामी के सवालों के हल हुए बिना किसान और आम जनता के अन्य हिस्से समाजवाद के लिए लड़ने को कत्तई तैयार नहीं हो सकते थे। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि साम्राज्यवाद के दौर में इन देशों के पूँजीपति वर्ग का रैडिकल से रैडिकल हिस्सा भी राष्ट्रीय जनवाद के कार्यभारों को आमूलगामी ढंग से पूरा कर पाने की क्षमता खो चुका था। ऐसी स्थिति में सर्वहारा वर्ग के हिरावल दस्तों का यह कार्यभार बनता था कि या तो वह सर्वहारा नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवाद के कार्यभारों को पूरा करके समाजवाद के कार्यभार को अपने हाथ में ले, या फिर, ऐसा सम्भव न होने की स्थिति में राष्ट्रीय जनवाद के कार्यभारों को अधिकतम सम्भव रैडिकल ढंग से और तेजी के साथ पूरा करने के लिए बुर्जुआ वर्ग पर दबाव बनायें। इतिहास इसी रास्ते से होकर आगे बढ़ा। साम्राज्यवादी शोषण और दबाव से मुक्ति का सवाल आज हमारे सामने राष्ट्रीय मुक्ति के सवाल के रूप में मौजूद नहीं है। साम्राज्यवादी शोषण और दबाव का उपकरण आज औपनिवेशिक-अर्द्धऔपनिवेशिक-नवऔपनिवेशिक गुलामी नहीं है। हम एक राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त देश में रहते हैं, और अपने ऐतिहासिक मूल एवं वर्ग प्रकृत्ति की दृष्टि से राष्ट्रवाद जिस बुर्जुआ वर्ग का नारा है, वही बुर्जुआ वर्ग आज राज्यसत्ता पर काबिज है और साम्राज्यवादी पूँजी को लूट के लिए आग्रहपूर्वक न्यौत रहा है।

नब्बे के दशक में जब उदारीकरण-निजीकरण की शुरुआत हुई तो अपने अन्दरूनी संकट की तार्किक गति से, और साम्राज्यवादी विश्व के एकजुट दबाव के आगे घुटने टेकते हुए भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने सीमित संरक्षणवादी उपायों को भी रद्द करते हुए विदेशी पूँजी के लिए देशी अर्थव्यावस्था के दरवाज़ों को चौतरफा खोल दिया। लेकिन यह किसी भी रूप में उपनिवेशवाद की वापसी नहीं है। राष्ट्रपारीय कम्पनियों और पूँजी-निर्यात के नये तौर-तरीकों के इस ज़माने में उपनिवेशों के संरक्षित बाज़ार सम्भव ही नहीं है। दूसरी बात, पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा साम्राज्यवादी शोषण और दबाव के विरुद्ध नहीं है। उनके आपसी अन्तरविरोध केवल मुनाफ़े के बाँट-बखरे को लेकर हैं। लूट केवल साम्राज्यवादियों की ही नहीं बढ़ी है, बल्कि देशी पूँजीपतियों की भी बढ़ी है। हालत यह है कि भारत, चीन, ब्राजील, द.अफ्रीका आदि तीसरी दुनिया के सापेक्षत: विकसित उत्पादक शक्तियों वाले जिन देशों में साम्राज्यवादी देशों की अकूत पूँजी लगी है, उन्हीं देशों के पूँजीपति लगातार अपना पूँजी निर्यात बढ़ाते भी जा रहे हैं और दूसरे देशों की जनता को लूटने में अभूतपूर्व आक्रामकता और गोलबन्दी का प्रदर्शन कर रहे हैं। साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध आज जो लड़ाई है, वह राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई नहीं है। देशी पूँजीवाद से लड़े बिना आज साम्राज्यवाद से नहीं लड़ा जा सकता। देशी बुर्जुआ राज्यसत्ता को चकनाचूर किये बिना आज साम्राज्यवादी शोषण और दबाव का निर्मूलन सम्भव नहीं।

इस ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर यह आसानी से समझा जा सकता है कि क्यों और किस प्रकार राष्ट्रवाद आज अपनी प्रगतिशील अन्तर्वस्तु को खोकर पूरी तरह अपने विपरीत में तबदील हो चुका है। यूरोप और अमेरिका में राष्ट्रवाद अपनी प्रगतिशीलता उन्नीसवीं शताब्दी में ही खो चुका था। अब वहाँ राष्ट्रवाद की भावना उकसाने का एक ही मतलब रह गया था और वह था पूरी दुनिया के बाज़ार के बँटवारे के साम्राज्यवादी युद्ध में अपने-अपने देशों में अन्धराष्ट्रवादी लहर उभारकर जनता का चारे की तरह इस्तेमाल करना। पहले विश्वयुद्ध में पहली बार यह चीज़ अपने चरम भयावह रूप में सामने आयी। उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों, में चाहे आज़ादी जितनी भी कम हो और जनवाद जितना भी सीमित हो, आज राष्ट्रवाद का नारा

इन देशों में भी अपनी प्रगतिशीलता और प्रासंगिता पूरी तरह से खो चुका है। अब यह केवल जनता में अन्धराष्ट्रवादी लहर उभारने का हथकण्डा मात्र है। आज राष्ट्रवाद का मतलब ही है अन्धराष्ट्रवाद। चाहे जितना भी द्रविड़ प्राणायाम कर लिया जाये, आज राष्ट्रवाद के किसी प्रगतिशील संस्करण का निर्माण सम्भव नहीं है, और न ही जनता को इसकी कोई ज़रूरत है।

आश्चर्य नहीं कि वर्तमान मोदी सरकार के पहले भी, जितनी सरकारें थीं वे कश्मीर और उत्तर-पूर्व की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को छीनकर, उसे कुचलने के लिए शेष भारत में अपने विराट मीडिया तंत्र द्वारा 'देश खतरे में है' का शोर मचाते हुए राष्ट्रवाद (यानी अन्धराष्ट्रवाद) की लहर उभारती रही थीं। यही अन्धराष्ट्रवाद बार-बार पाकिस्तान, चीन, नेपाल, बांग्लादेश आदि पड़ोसी देशों के विरुद्ध उभारकर भारतीय पूँजीपति वर्ग अपने क्षेत्रीय विस्तारवाद के लिए जन समर्थन जुटाता रहा है। यह भावना कभी भी पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों की लूट के विरुद्ध नहीं उभारी जाती।

भारत में पिछले लगभग तीस वर्ष प्रचण्ड हिन्दुत्ववादी फासिस्ट उभार के वर्ष रहे हैं, जिसकी चरम परिणति आज मोदी सरकार के रूप में हमारे सामने है। **यूँ तो अन्धराष्ट्रवाद का इस्तेमाल सभी पूर्ववर्ती सरकारें और सभी बुर्जुआ पार्टियाँ करती रही हैं, लेकिन हर प्रकार का फासीवाद इसके उग्रतम रूपों का हमेशा से इस्तेमाल करता रहा है। फासीवाद मुख्यत: मध्यवर्ग आधारित एक धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है।** नस्लवाद या धार्मिक कट्टरपंथ और अन्धराष्ट्रवाद के आधार पर ही वह नस्ली, धार्मिक श्रेष्ठता और "राष्ट्रीय गौरव" के मिथक गढ़ता है तथा जन समुदाय के भीतर एक उन्माद पैदा करता है। ऐसी मिथ्याभासी चेतना वाले लोगों की वर्गीय चेतना इतिहास-बोध कुन्द होने के साथ ही विलुप्त हो जाती है और वे मिथ्या मुद्दों को वास्तविक मानने लगते हैं। इन्हीं लोगों के सहारे फासिस्ट धार्मिक-नस्ली अल्पसंख्यकों तथा मज़दूर आन्दोलनों को निशाना बनाते हैं, उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार के संघर्षों तथा जनता के सभी संघर्षों को देशद्रोह घोषित कर देते हैं तथा पड़ोसी देशों के विरुद्ध "राष्ट्रीय गौरव" भड़काकर अपनी क्षेत्रीय विस्तारवादी नीतियों का समर्थन आधार तैयार करते हैं। मोदी और उसकी सरकार के मंत्री देश के विकास के नाम पर दुनिया भर की लुटेरी कम्पनियों को यहाँ पूँजी लगाने के लिए पलक-पाँवड़े बिछाकर न्यौतते हैं, अमेरिका और यूरोप से लेकर तेलधनी अरब देशों के दरवाज़ों पर जाकर सिज़दे करते हैं और दूसरी ओर पाकिस्तान, नेपाल, बांग्लादेश, भूटान आदि देशों पर अन्धराष्ट्रवादी अहमन्यता के साथ दादागिरी और धौंसपट्टी दिखाते हैं। जनता को "चीनी ड्रैगन" के खतरे से आगाह करते रहते हैं और साथ ही चीनी पूँजी के लिए लाल कालीन बिछाने को तत्पर रहते हैं। **इनका "राष्ट्रवाद" हिन्दू राष्ट्रवाद है जो मुस्लिम और अन्य अल्पसंख्यकों को 'अन्य' की या मातहत की श्रेणी में रखता है। इनका "राष्ट्रवाद" कश्मीरी और उत्तरपूर्व की जनता के आत्म निर्णय के संघर्ष को ही नहीं, बल्कि किसानों-मज़दूरों-आदिवासियों के सभी संघर्षों को, अपने अधिकारों तथा कैम्पस के जनवादी स्पेस की हिफाज़त के लिए आवाज़ उठाने वाले छात्रों-अध्यापकों को तथा धार्मिक कट्टरता के विरोधी सभी तर्कशील बुद्धिजीवियों को देशद्रोही मानता है।**

इस फासिस्ट राष्ट्रवाद की असलियत को समझने-समझाने के लिए राष्ट्रवाद की समग्र ऐतिहासिक परिघटना को समझना होगा और व्यापक जन समुदाय को समझाना होगा। ●

"अगर देशप्रेम की परिभाषा सरकार की अन्धआज्ञाकारिता नहीं हो, झण्डों और राष्ट्रगानों की भक्तिभाव से पूजा करना नहीं हो; बल्कि अपने देश से, अपने साथी नागरिकों से (सारी दुनिया के) प्यार करना हो, न्याय और जनवाद के उसूलों के प्रति प्रतिबद्धता हो; तो सच्चे देशप्रेम के लिए ज़रूरी होगा कि जब हमारी सरकार इन उसूलों को तोड़े तो हम उसके हुक्म मानने से इंकार करें!"

"नागरिक अवज्ञा हमारी समस्या नहीं है। हमारी समस्या है नागरिकों की आज्ञाकारिता। हमारी समस्या है कि दुनियाभर में लोग नेताओं के तानाशाही आदेशों का पालन करते रहे हैं... और इस आज्ञाकारिता के कारण करोड़ों लोग मारे गये हैं। ...हमारी समस्या यह है कि दुनियाभर में ग़रीबी, भुखमरी, अज्ञान, युद्ध और क्रूरता का सामना कर रहे लोग आज्ञाकारी बने हुए हैं। हमारी समस्या यह है कि लोग आज्ञाकारी हैं जबकि जेलें मामूली चोरों से भरी हुई हैं... बड़े चोर देश को चला रहे हैं। यही हमारी समस्या है।"

-हॉवर्ड ज़िन (1922-2010)

(प्रख्यात अमेरिकी जनपक्षधर इतिहासकार)

सामयिकी

जल संकट : वित्तीय पूँजी की जकड़बन्दी का नतीजा

● मीनाक्षी

भारत समेत कई देशों की जनता आज विकट जल संकट से जूझ रही है। विश्व बैंक के आँकड़ों की मानें तो ताजे जल स्रोतों की उपलब्धता के लिहाज से दुनिया के सर्वाधिक जल-समृद्ध दस देशों की सूची में भारत भी शामिल है फिर क्या वजह है कि साल दर साल यहाँ की जनता सूखे की मार झेलने के लिए अभिशप्त है? **पूँजीवादी विकास और नवउदारवादी नीतियों के अमल ने जब पानी को सुगम और सर्वसुलभ ही न रहने दिया हो और उसे एक मुनाफ़ा देनेवाले उद्योग की शक्ल में बदल दिया हो तो क्रय शक्ति से कमजोर आम जन समुदाय के लिए उस तक पहुँच ही कठिन नहीं होगी बल्कि जल्दी ही यह उसके लिए एक विलासिता की सामग्री भी हो जायेगी, यह निश्चित है।** पानी का एक मुनाफ़ेवाला कारोबार बनने के समय से ही पूरी दुनिया के कारोबारियों के बीच इस पर आधिपत्य के लिए भीषण प्रतिस्पर्धा जारी हो चुकी थी। लगभग 500 बिलियन डालर के इस वैश्विक बाज़ार के लिए यह होड़ बेशक अब और अधिक तीखी होने वाली है। **फ़ॉरच्यून पत्रिका की रिपोर्ट के अनुसार बीसवीं शताब्दी के लिए तेल की जो कीमत थी इक्कीसवीं शताब्दी के लिए पानी की वही कीमत होगी। यह अनायास ही नहीं है कि पानी उद्योग का वार्षिक राजस्व आज तेल सेक्टर के लगभग 40 प्रतिशत से ऊपर जा पहुँचा है।** यह तय है कि पानी की समस्या और अधिक विकराल होती जायेगी। अमेरिका से लेकर अफ्रीका, कई लातिन अमेरिकी देश और एशिया व यूरोप के कुछ देश भी इस संकट की चपेट में आ चुके हैं। कैलीफोर्निया में पिछले 4 वर्षों से पानी का संकट जारी है। फ्लिण्ट के जल संकट ने तो अमेरिकी जनता को सड़कों पर उतरने को मजबूर कर दिया था। पानी की कमी को लेकर दुनिया के कई शहरों में आन्दोलन हुए हैं और यह सिलसिला अभी थमा नहीं है। भारत की स्थिति तो और भी भयंकर है। भीषणता का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि **देश के कुल 688 जिलों में से अधिकतम 80 जिले ही ऐसे हैं जिनका पानी पीने योग्य रह गया है। 91 जलाशयों का जल स्तर अब तक एक तिहाई घट चुका है। नदियाँ यहाँ जल की प्राकृतिक स्रोत हैं परन्तु तापमान वृद्धि के कारण जो स्वयं पूँजीवाद उत्पादन प्रणाली की देन है, गंगा, ब्रह्मपुत्र, कृष्णा, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी जैसी बड़ी नदियाँ 33 से लेकर 49 फीट तक सिकुड़ चुकी हैं और यह सिकुड़ना जारी रहेगा क्योंकि मुनाफ़े की अन्धी हवस पृथ्वी के तापमान को घटने नहीं देगी। इसी पूँजीवादी लोभ के चलते नदियों का 75 प्रतिशत से भी ज्यादा पानी प्रदूषित हो चुका है और पीने व नहाने योग्य नहीं रह गया है।** बाज़ार समाजवाद से खुले बाज़ार की तरफ छलांग मारते चीन में प्रदूषण की समस्या ने विकराल रूप ले लिया है। यहाँ नदियाँ 80 फीसदी से भी ज्यादा प्रदूषित हो चुकी हैं।

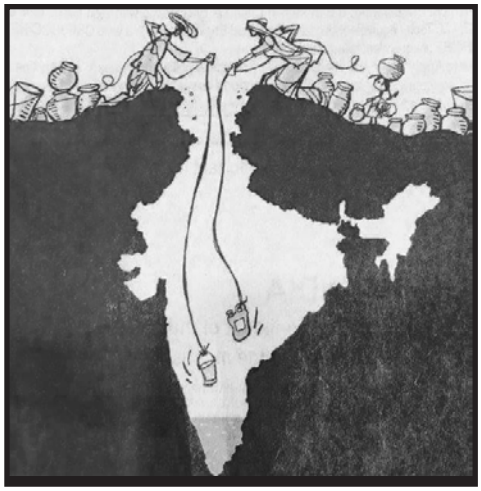

वर्ष की शुरुआत में दावेस में विश्व आर्थिक मंच का छठा सम्मेलन आयोजित हुआ था। यह **तमाशा** भी खूब रहा। इस आयोजन में जल की समस्या को भी चिन्ता योग्य माना गया और संयुक्त राष्ट्र के सचिव बान की मून की उपस्थिति में इस पर **'अत्यन्त गम्भीरता'** से विचार करने के बाद समाधान के तौर पर उसमें शामिल देशों के राष्ट्राध्यक्षों का एक

आपातकालीन पैनल स्थापित कर दिया गया, ठीक वैसे ही जैसे दुनिया की विशाल आबादी को प्रभावित करने वाले इस तरह के संकटों में बिना किसी ठोस जवाबदेही के ऐसी तमाम किस्म की कमेटियाँ और पैनल पहले भी कायम किये जाते रहे हैं। यह पूछना बेमानी है कि जब आम जन-जीवन के लिए पानी एक अहम मुद्दा था तो फोरम के लिए यह अब तक अहम क्यों नहीं बना था। फोरम पहले ही यह स्पष्ट कर चुका था कि उसके प्राथमिकता क्रम में 'अन्य अत्यावश्यक दबाववाले मुद्दे समाधान की बाट जोह रहे थे।' तब भला पानी कोई आवश्यक मुद्दा हो ही कैसे सकता था! यह दीगर बात है कि ऐसे मुद्दे बाट जोहते रहते हैं और नये-नये मुद्दे कालान्तर से अहमियत ग्रहण कर उन बाट जोहने वालों में शामिल होते जाते हैं और अन्त तक असमाधेय ही रह जाते हैं। मुख्यतः अमेरिकी पूँजी के इशारों पर नाचनेवाले ये सभी अन्तरराष्ट्रीय संगठन, वैश्विक संस्थाएँ या मंच ऐसे मसलों पर जनता को भरमाने और अपने होने के औचित्य प्रतिपादन के लिए सम्मेलन और शिखर सम्मेलन आयोजित करते रहते हैं लेकिन आज तक ऐसे किसी आयोजन का कोई ठोस नतीजा अभी तक सामने नहीं आया है। **जलवायु परिवर्तन के शिखर सम्मेलन की तरह जल संकट पर आर्थिक मंच का यह आयोजन भी बेनतीजा रहने के लिए ही अभिशप्त होगा। मंच के विभिन्न सत्रों में विश्व बैंक के मुखिया और खाद्य सामग्री व बोतलबन्द पानी बाजार से सर्वाधिक मुनाफ़ा पीटनेवाली नेस्ले कम्पनी के अध्यक्ष पीटर ब्रावेक जैसे लोगों की उपस्थिति इसी बात का प्रमाण है।** भूलना नहीं होगा कि विश्व बैंक कमजोर अर्थव्यवस्था वाले देशों को निजीकरण और सुधारों की रफ़्तार तेज़ करने की शर्त पर वित्तीय सहायता देकर बर्बादी की कगार पर पहले ही पहुँचा चुका है। अब वह जल प्रबन्धन के क्षेत्र में विकासशील देशों को जाहिरा तौर पर जनता की सुविधाओं में कटौती की शर्त के साथ फण्ड मुहैया कराने वाला सबसे बड़ी दाता एजेंसी बना हुआ है। **इससे अधिक हास्यास्पद बात भला क्या होगी कि कोई खाद्य व पेय पदार्थ, बोतलबन्द पानी और औषधि निर्माण जैसे सबसे अधिक पानी सोखने वाले प्रतिस्पर्धी उद्योगों के मुखियाओं/सरगनाओं से जल संकट से निजात पाने का उपाय पूछे!(?)** उदाहरण के लिए नेस्ले या कोकाकोला या पेप्सी द्वारा निर्मित पेय पदार्थ में प्रति व्यक्ति 95 लीटर के हिसाब से पानी इस्तेमाल होता है। ठीक इसी प्रकार बोतलबन्द पानी के धन्धे में 1 लीटर साफ पानी के लिए 5 लीटर पानी इस्तेमाल हो जाता है। बोतलबन्द पानी के 160 बिलियन डालर वाले धन्धे पर जबरदस्त दबदबा रखनेवाली नेस्ले सहित बिसलेरी, पेप्सी, कोकाकोला, धारीवाल और पारले जैसी प्रमुख कम्पनियाँ क्या जल संकट को देखते हुए अपना खरबों का मुनाफ़ा छोड़ देंगी? ऐसा वे करने से रहीं, उल्टे वे इन संकटों से और ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने की फ़िराक में रहेंगी। मद्धिम गति से लगातार जारी मन्दी के इस दौर में जब पूँजीपतियों का मुनाफ़ा घटता है तो मुनाफ़े का यह संकट आम जन के संकटों से मुनाफ़ा पैदा करने की कोशिशों में लग जाता है और आम जनता के लिए और अधिक संकट ले आता है। यह दुष्चक्र चलता रहता है।

पूँजी एक डायन की तरह मुनाफ़े की खोज में बदहवास भागती रहती है हर चीज़ को माल में बदले बिना वह ज़िन्दा नहीं रह सकती। बालू, मिट्टी, पानी, जंगल, पहाड़ जैसी प्रकृति प्रदत्त चीजें भी उसके खुले जबड़े में समा जाती हैं। पूँजीपरस्त सरकारें उसकी सहूलियत के लिए प्रबन्धन समिति की अपनी भूमिका के अनुरूप तरह-तरह के हथकण्डे अपनाती हैं। **भारत में भी सरकारें रोज़गार वृद्धि और आर्थिक समृद्धि का बहाना लेकर बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रपारीय निगमों की अगवानी के लिए नाक रगड़ने उनके देशों तक जा पहुँचती रही हैं। काँग्रेस शासन में यह अपेक्षाकृत धीमी गति से होता था लेकिन मोदी सरकार इसे बेशर्मी से खुले आम और डंके की चोट पर तेज़ गति से करती है। ये कम्पनियाँ प्राकृतिक संसाधनों का भीषण दोहन करके मुनाफ़ा कमाती हैं और उसका एक टुकड़ा अपने छोटे साझीदार, देशी पूँजीपतियों की झोली में डाल देती है। उनका हिसाब-किताब देखनेवाली सरकार, उसके नेताओं और नौकरशाहों को भी उसका जूठन मिल जाता है पर यह जूठन-छाड़न ही इतना होता है कि उनकी कई अगली पीढ़ियों का आर्थिक भविष्य सुरक्षित हो जाये।** तेल निकालने और शोधन करने से लेकर औषधि, कम्प्यूटर, मोबाइल और विद्युत संयंत्र लगाने और संचालित करनेवाली ये कम्पनियाँ भारत में अरसे से सरकार की छत्रछाया में जल समेत देश के प्राकृतिक संसाधनों को खुले हाथ लूटने में लगी हैं। इतना ही नहीं, वे अपने जहरीले रासायनिक कचरे से भूमिगत जल और नदियों के पानी को विषाक्त बनाती रही हैं। पानी की अधिक मात्रा के लिए ये कम्पनियाँ 800 फीट की गहराई से पानी खींचती हैं और आसपास के क्षेत्रों को सूखाग्रस्त बना डालती हैं। इस्तेमाल पानी को शोधित कर पुनः इस्तेमाल की जगह ये लगातार ताजे पानी का उपयोग करती हैं। शोधन में होनेवाले व्यय को इस प्रकार बचाकर ये मुनाफ़े की दर बढ़ाने में सफल हो जाती हैं। यह सिलसिला और तेज़ हुआ है। हालाँकि

इन कम्पनियों के खिलाफ जनता लगातार प्रतिरोध करती रही है। विगत दिनों तमिलनाडु में पेप्सीकोक और जैतपुर में परमाणु विद्युत संयंत्र के विरुद्ध वहाँ की जनता कई बार सड़कों पर उतर चुकी है। जाहिर है सरकार ने पूँजी के हित में खड़े होकर जनता का दमन करने में हमेशा बड़ी फुर्ती दिखायी है।

औद्योगिक कचरे के साथ-साथ नदी के पानी में सीवेज और फ्लोराइड सहित अन्य खतरनाक किस्म के रसायन घुलने से प्रदूषित पानी मानव ही नहीं पशुजीवन के भी उपयोग लायक नहीं रहा। राष्ट्रीय राजधानी होने के बावजूद अकेले दिल्ली में ही लगभग 45 प्रतिशत आबादी सार्वजनिक सीवरेज तंत्र के अन्तर्गत नहीं आती। पूँजीपतियों की चाकरी बजानेवाली सरकार को इसका उपाय निकालने में, ज़ाहिर है कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। बरसात के मौसम में वर्षाजल का 48 फीसद इन नदियों में गिरता है लेकिन वह भी प्रदूषित और इस कारण व्यर्थ हो जाता है जो कि अन्यथा उपयोगी हो सकता था। छोटे बाँधों की जगह विकास के नाम पर सरकारों ने बड़े बाँधों को बढ़ावा दिया है जब कि बड़े बाँध वर्षा जल को ज़मीन तक पहुँचने से रोकते हैं। जल प्रदूषण के साथ यह भी पानी के संकट की एक वजह है। **जल संकट या अन्य आपातकालीन स्थितियों से निपटने के लिए अक्सर कुछ नासमझ बुद्धिजीवी पूँजीपतियों से सामाजिक दायित्व निभाने की अपील करते हैं तथा उनका मुँह जोहने लगते हैं। परन्तु किसी नदी को प्रदूषणमुक्त करने में औद्योगिक घरानों की सीधी सी बात है कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती जबतक कि उसे उनके निजी हाथों में सौंप न दिया जाये, जिससे वे उस पानी को शोधित कर सरकार, व्यक्तियों या अधिक पानी की खपत वाले छोटे उद्योगों को महँगे दामों पर बेचकर मुनाफ़ा कमा सकें।** सरकार को महँगे दामों पर पानी बेचने के सवाल पर यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वास्तव में वे सरकार से मुनाफ़ा नहीं कमाते, जनता का पैसा निचोड़ते हैं जिसे सरकार पहले ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के रूप में वसूलकर सरकारी खजाने में डाल चुकी होती है।

यह एक नंगी सच्चाई है कि सरकारें जनकल्याण का वितण्डा खड़ा करके वास्तव में पूँजीपतियों के लिए मुनाफ़ा बढ़ाने की खुली व्यवस्था कायम करती हैं और उसके प्रबन्धन का दायित्व सँभालती हुई उनके हितों के पोषण में मुस्तैदी से लग जाती हैं। एक बार फिर यह याद करना होगा कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था को जब भूमण्डलीकरण की नीतियों के साथ नत्थी करने की ज़मीन तैयार की जा रही थी तो तत्कालीन सरकार ने किस तरह उनके पक्ष में माहौल बना कर अपनी प्रबन्धकीय भूमिका को उत्कट वफ़ादारी से निभाया था। पूँजीवादी देशों में संसद भी, ग्राम्शी के शब्दों में कहा जाये तो 'सहमति निर्माण का एक उपकरण ही है'। साम्राज्यवादी पूँजी के लिए भारत के बाज़ार ने एक जबरदस्त अवसर मुहैया कराया और सरकारी नीतियों ने उसे संरक्षण प्रदान किया। पानी, बिजली, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा जैसी जन-सुविधाओं और जनवादी अधिकारों वाले मदों में कटौती का सिलसिला शुरू हुआ जो अब तक जारी है। ज़ाहिर है जल संकट पैदा करने में पूँजी की सेवा में तत्पर रहनेवाली सरकार का सक्रिय योगदान था। आज जो पानी उपलब्ध भी है वह सरकार की घनघोर उपेक्षा और जनविरोधी नीतियों की भेंट चढ़ गया। इसी का नतीजा है कि जलापूर्ति के लिए बिछे पाइपों की मरम्मत करने या उसे बदलने के लिहाज से तीसों सालों तक बल्कि कहा जाये तो उससे भी ज्यादा समय तक कोई ध्यान नहीं दिया गया और न ही इसकी कोई सुनिश्चित योजना ली गयी। लिहाजा जगह-जगह पाइप के फटे दरारों या छिद्रों से काफ़ी पानी निकलकर बर्बाद होता रहा। इस ओर उपेक्षात्मक रवैया अपनाया गया। सरकारी निकाय और संस्थाएँ जानबूझकर आँखें मूँदे रहीं। आज स्थिति यह है कि इन छिद्रों-दरारों से 50 प्रतिशत पानी रिसकर बर्बाद हो जाता है। सूखे और बाढ़ से देश के बार-बार प्रभावित होने के बावजूद पानी को साफ़ करने, बारिश के समय उसका संग्रह करने और उसे आपातकाल के लिए पहले से ही सुरक्षित रखने की तकनीक को विकसित करने में कभी कोई खास दिलचस्पी नहीं ली गयी। **औद्योगिक कचरे पर रोक लगाने के लिए यदि कानून बनाये भी गये तो वे वित्तीय दण्ड और जेल की सजा जैसे प्रावधानों के बिना अमल के धरातल पर नख-दन्त विहीन ही बने रहे।** उल्टे उन उद्योगों को रिहायशी बसेरों के आसपास न केवल स्वयं को स्थापित करने बल्कि हर तरह की अवरचनागत और अन्य सुविधाएँ हासिल करने की छूट भी दी गयी। जलापूर्ति करनेवाले निकायों में निजी कम्पनियों को पैठ बनाने का मौका और सहूलियत दी गयी। याद दिलाते चलें कि **आन्ध्रप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री चन्द्रबाबू नायडू ने पेय पदार्थ बनानेवाली कम्पनियों को सरकारी खर्चे से संग्रहित और साफ़ किया हुआ पानी 25 पैसे प्रति लीटर के हिसाब से मुहैया कराया था किन्तु उक्त कम्पनी ने एक बोतल के लिए उस समय 12 रुपये अपने ग्राहकों से वसूले।** निजी कम्पनियों के लिए जल-समृद्ध क्षेत्रों से पानी खींचने, पाइप बिछाने और शहरों व छोटे उद्योगों को मनमाने दामों पर बेचकर मुनाफ़ा कमाने के रास्ते में आनेवाली सभी अड़चनें दूर की

गयीं। यह पूरे देश के पैमाने पर हुआ। इस अन्धाधुन्ध दोहन के कारण पानी से चलने वाले ऐसे कई छोटे सार्वजनिक या कम पूँजीवाले उद्योग पानी की कमी या उसके महँगे दर के चलते बन्द भी हो गये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बड़ी पूँजी शार्क मछली की तरह छोटी पूँजी को निगलती ही है।

आज पानी की जो भी उपलब्धता है वहाँ तक अब एक अल्पसंख्यक समृद्ध आबादी की पहुँच ही हो सकती है। भारतीय मानक ब्यूरो के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रति दिन के औसत दर से सामान्यतः 160 लीटर और महानगरों में 280 -300 लीटर पानी निकालता है। लेकिन यह एक फ़रेबी आँकड़ा है। यहाँ जल वितरण में असमानता के कारक की अनदेखी की गयी है। यूँ भी असमान वितरण पूँजीवाद की अभिलाक्षणिकता है। **अकेले दिल्ली में देखा जाये तो पॉश कालोनियों के लिए प्रतिदिन प्रति व्यक्ति यह औसत जहाँ 225 लीटर से भी ज़्यादा है वहीं आम मध्यवर्गीय घरों और सामान्य कालोनियों के लिए यह 155 लीटर है और झुग्गी झोपड़ियों के लिए जो कुल आबादी का लगभग 78 फीसद हिस्सा है, प्रति व्यक्ति यह औसत 50 लीटर है।** घरेलू उपयोग के लिए समृद्ध तबका विद्युत पम्प के ज़रिये भूमिगत जल की मनचाही मात्रा खींचने में सक्षम है। अगर कृषि के क्षेत्र में पानी की खपत की बात की जाये तो यह सच है कि कृषि उपलब्ध पानी का 70-80 प्रतिशत हिस्सा सोखती है लेकिन वह भी पूँजीवादी फार्मरों और कुलकों के हिस्से आता है जो अपने खेतों में कई-कई शाक्तिशाली पम्प लगाकर भूमिगत जल का भयंकर दोहन करते हैं। ऐसे में उन क्षेत्रों में जल स्तर काफी नीचे चला जाता है और सूखे से तबाही मच जाती है। ग़रीब किसानों और आम ग्रामीण आबादी के लिए पानी का संकट विकराल रूप ले लेता है। महाराष्ट्र का उदाहरण सामने है जहाँ इस साल भीषण सूखा पड़ा है। परन्तु सिंचाई का लगभग 72 प्रतिशत जल सोखने के बावजूद गन्ने की खेती और गन्ना मिलों पर यहाँ इसलिए कोई रोक अभी तक नहीं लगायी गयी है क्योंकि इन मिलों के मालिक सरकार में बैठते हैं। उल्टे वहाँ 3 सालों में 30 और नयी मिलें खोली गयी हैं। यह सच कितना भी घृणास्पद क्यों न हो इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि **पानी की कमी या सूखे की स्थिति प्राकृतिक नहीं पूँजीपतियों के लोभ लालच और सरकार के उनके हितपोषण में आगे आने से पैदा हुआ है।** सरकार के इसी असंवेदनशील और जनविरोधी चरित्र के चलते आज 35 राज्यों में से केवल 7 राज्यों के ग्रामीण इलाकों में पानी उपलब्ध है। एक तरफ आम शहरी और ग्रामीण जनता भीषण सूखे और पानी के संकट से जूझ रही है, देश के दो-तिहाई घरों के लिए पीने तक का पानी उपलब्ध नहीं है तो दूसरी तरफ उसके 'प्रतिनिधि' उसकी ही कीमत पर पानी का बेरहमी से इस्तेमाल कर रहे हैं। **इस आपातस्थिति में भी प्रति मंत्री आवास पानी की खपत प्रतिदिन 30,000 लीटर है, प्रधानमंत्री आवास की खपत 73,000 लीटर और राष्ट्रपति भवन में यह 67,000 लीटर प्रति दिन है। ये गरीब जनता के अमीर प्रतिनिधि हैं।** मराठवाड़ा के भीषण रूप से सूखाग्रस्त लातूर इलाके में पानी की रेल भेजने के लिए कुछ कूपमण्डूक किस्म के पत्रकार और बुद्धिजीवी मोदी सरकार की तारीफ़ में कसीदे पढ़ने लग गये थे लेकिन कोई भी आम समझ का व्यक्ति यह जान चुका था कि वह प्रचार पाने का एक सस्ते किस्म का हथकण्डा मात्र था। अन्यथा जहाँ पानी की कमी से अस्पतालों को मरीजों की सर्जरी पर रोक लगा देनी पड़ी हो वहीं पाँच सितारा होटलों में एक कमरे के प्रतिदिन पानी का खर्च 1,600 लीटर नहीं होता। और न ही बोरीवली में 210 तरण तालों वाले भवन के बारे में साजिशाना चुप्पी छायी रहती। सवाल यह है कि ऐसी विलासिता पर प्रतिबन्ध लगाने की ज़रूरत क्यों नहीं समझी गयी। यह कैसे सम्भव हुआ कि देश के 13 से अधिक राज्यों के सूखे की चपेट में होने के बावजूद वाटर पार्क और जल आधारित मनोरंजन केन्द्र बदस्तूर न केवल चल रहे हैं बल्कि नये-नये खोले भी जा रहे हैं, जबकि केन्द्र सरकार को यह अधिकार है कि वह जनहित में पानी की इस बर्बादी पर रोक लगाने के लिए कड़े कदम उठाये। परन्तु सरकार का काम जनता के पक्ष में कदम उठाना नहीं होता। ऐसे कड़े कदमों की ज़रूरत उसे जनता की बुनियादी ज़रूरतों और जनवादी अधिकारों का अपहरण करने और अपने वाजिब हकों के लिए संघर्षरत छात्रों, युवाओं और मेहनतकशों के प्रतिरोध को कुचलने के लिए ही पड़ती है, और यही पूँजीवादी मुनाफ़े और मौजूदा संसदीय व्यवस्था का राजनीतिक अर्थशास्त्र है। ●

सामयिकी

बिपिन चन्द्र की पुस्तक पर भगवा हमला : भगतसिंह बनाम क्रान्तिकारी आतंकवाद

● अखिल

मोदी के सत्तासीन होने के बाद से शिक्षा के भगवाकरण की मुहिम ज़ोर-शोर से चलायी जा रही है। प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा तक के पाठ्यक्रम को संघ तथा भाजपा संगठित ढंग से अपने दृष्टिकोण के अनुसार ढाल रहे हैं। हाल ही में केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्रालय में राज्य मंत्री राम शंकर कठेरिया ने लखनऊ विश्वविद्यालय में एक कार्यक्रम के दौरान खुल्लम-खुल्ला और निर्लज्जतापूर्वक यह ऐलान किया कि "हम लोग शिक्षा और देश दोनों का भगवाकरण करेंगे।" **शिक्षा के भगवाकरण को जायज़ ठहराने के लिए विश्वविद्यालयों में पहले से पढ़ायी जा रही पाठ्य-पुस्तकों में से कुछ संवेदनशील मुद्दों को संदर्भ से काटकर इस तरह प्रस्तुत किया जा रहा है कि जनता भी संघियों की इस मुहिम की ज़रूरत महसूस करे और इसकी सराहना करे या कम से कम इसका विरोध न करे।**

इसी तर्ज़ पर पिछले दिनों आधुनिक भारत के इतिहास की प्रसिद्ध पुस्तक **'इण्डियाज़ स्ट्रगल फॉर इण्डिपेण्डेन्स' ('भारत का स्वतंत्रता संघर्ष')** पर वैचारिक हमला बोला गया था। यह पुस्तक मुख्यतः सुविख्यात लेखक तथा इतिहासकार दिवंगत बिपिन चंद्र द्वारा लिखी गयी है और दो दशक से भी अधिक समय से दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में पढ़ायी जाती रही है। **ग़ौरतलब है कि उक्त पुस्तक के 20वें अध्याय "भगतसिंह, सूर्य सेन और क्रान्तिकारी आतंकवादी" में भगतसिंह, चंद्रशेखर आज़ाद, सूर्य सेन तथा अन्य क्रान्तिकारियों को "क्रान्तिकारी आतंकवादी" कहा गया है।** भाजपा के नेताओं ने इसी बात को संदर्भ से काटकर इस ढंग से प्रचारित किया कि पुस्तक ने स्वतंत्रता संग्राम के क्रान्तिकारियों को आतंकवादी कहकर उनका अपमान किया है। मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी और भाजपा सांसद अनुराग ठाकुर ने सदन में घड़ियाली आँसू बहाते हुए इस पुस्तक को शहीदों की "शैक्षणिक हत्या" बताया। मामले को तूल देने के लिए और शिक्षा के "शुद्धिकरण" की संघी मुहिम को जायज़ ठहराने के लिए संसद से लेकर प्रिण्ट तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में इस मुद्दे को खूब उछाला गया। बिपिन चंद्र और सेक्युलरिज़्म को पानी पी-पीकर कोसा गया। मज़े की बात यह है कि इस मुद्दे को जिस व्यक्ति ने सबसे पहले उठाया वह कोई और नहीं बल्कि भगतसिंह के भतीजे अभय सिंह संधु हैं जो भगतसिंह के छोटे भाई कुलबीर सिंह के बेटे हैं और जिनका भगतसिंह की विचारधारा से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है। अभय सिंह ने मानव संसाधन विकास मंत्री स्मृति ईरानी को चिट्ठी लिखकर पुस्तक में बदलाव किये जाने का अनुरोध किया था, जिसके बाद दिल्ली विश्वविद्यालय ने इस पुस्तक के हिन्दी संस्करण में संशोधन किये जाने तक इसके वितरण पर रोक लगा दी।

इस मुद्दे को उछालकर संघ ने एक तीर से कई निशाने लगाये हैं। जहाँ एक तरफ़ वह इसे शिक्षा के भगवाकरण को जायज़ ठहराने और प्रगतिशीलता तथा सेक्युलरिज़्म के ख़िलाफ़ माहौल तैयार करने में इस्तैमाल कर रहा है, वहीं दूसरी तरफ़ भगतसिंह को अपने नायक की तरह पेश करके संघ स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग न लेने, क्रान्तिकारियों की मुख़बिरी करने और अंग्रेज़ों के तलवे चाटने के कलंक को मिटाने की फ़िराक में है।

इस पूरे मामले को तार्किक ढंग से समझने के लिए आइये सबसे पहले यह समझें कि आतंकवाद का अर्थ क्या है? आज जनता जहाँ कहीं भी आतंकवाद शब्द को पढ़ती-सुनती है तो उसके सामने आतंकवाद की वही छवि उपस्थित हो जाती है जो पिछले लगभग दो-ढाई दशक में उसके दिमागों में घर कर गयी है या पूँजीवादी मीडिया तंत्र द्वारा पैठा दी गयी है। और वह छवि है: निर्दोष लोगों पर गोलियाँ चलाना, बम विस्फोट करना, क़त्लेआम करना आदि-आदि। इसीलिए भगतसिंह को आतंकवादी कहे जाने का मुद्दा उछाल कर लोगों को आसानी से बरगलाया जा सकता है। लेकिन आतंकवाद की यह समझ बेहद उथली है। ऐसे में आतंकवाद की परिघटना को गहराई से समझना बेहद ज़रूरी है।

आज हम लोग एक पूँजीवादी समाज में जी रहे हैं, जो लोकतंत्र और जनवाद के तमाम दावों के बावजूद अपने पूर्ववर्ती वर्ग-समाजों की तरह एक तानाशाही ही है: मुट्ठी भर धनिक वर्ग की आम मेहनतकश जनता पर तानाशाही। बेशक, अतीत के वर्ग-समाजों से भिन्न यह अपनी सैन्य ताक़त के

अतिरिक्त शोषित वर्ग के ऊपर अपने विचारों का वर्चस्व स्थापित कर अपनी तानाशाही को सुदृढ़ करता है। लेकिन तब भी इसकी आधारभूत ताक़त सेना ही होती है, जो शोषित वर्ग में खौफ़ और आतंक पैदा कर उन्हें इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बिना किसी विरोध के स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है। **पूँजीवादी राज्य सत्ता के इस आतंक की प्रतिक्रिया के रूप में ही आतंकवाद का जन्म होता है जिसकी मोटे तौर पर दो धाराएँ होती हैं— क्रान्तिकारी आतंकवाद और प्रतिक्रियावादी आतंकवाद।** आतंकवाद की क्रान्तिकारी धारा में वे प्रगतिशील और सेक्युलर क्रान्तिकारी आते हैं, जिन्हें जनता की सामूहिक शक्ति की बजाय अपनी वीरता, कुर्बानी के जज़्बे और हथियारों पर अधिक भरोसा होता है और जिन्हें शासक वर्ग में आतंक पैदा कर व्यवस्था को बदल देने का मुग़ालता होता है। लेकिन तब भी वे निष्ठावान और बहादुर होते हैं, जो जनता से कटे होने के बावजूद जनता के दुःख-दर्द को महसूस करते हैं और एक सेक्युलर, जनवादी या समाजवादी समाज का निर्माण करने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। इसके विपरीत, आतंकवाद की प्रतिक्रियावादी धारा एक पुनरुत्थानवादी धारा होती है, जो बेशक पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के प्रतिरोध के रूप में ही पैदा होती है, लेकिन समाधान के लिए भविष्य की बजाय अतीत की ओर देखती है। इस धारा के आतंकवादी साम्राज्यवाद को अपना शत्रु समझने के साथ-साथ प्रगतिशीलता, सेक्युलरिज़्म, जनवाद और समाजवाद को भी अपना शत्रु समझते हैं। आई.एस., अलकायदा और तालिबान जैसे धार्मिक कट्टरपन्थी संगठन आतंकवाद की इसी श्रेणी में आते हैं किन्तु यहाँ पर यह भी ध्यान रहे कि इन आतंकवादी संगठनों को परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से खड़ा करने में साम्राज्यवादी ताकतों ने अपने राजनीतिक हित साधने के मकसद से भरपूर मदद दी है अब चाहे ये बेशक पागल कुत्ते की तरह अपने मालिक पर भी झपट पड़ने में कोई गुरेज शायद ही करें!

बिपिन चन्द्र ने अपनी पुस्तक में भगतसिंह और उनके साथियों को क्रान्तिकारी आतंकवाद की श्रेणी में रखा है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास पर नज़र डालें तो हम पाते हैं कि 20वीं शताब्दी के शुरुआती वर्षों से ही क्रान्तिकारी आतंकवाद युगान्तर और अनुशीलन जैसे गुप्त संगठनों के रूप में अपनी प्रारंभिक अवस्था में मौजूद था। उस समय ये संगठन अरबिन्द घोष, रासबिहारी बोस और जतीन्द्रनाथ मुखर्जी जैसे क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में बंगाल में सक्रिय थे और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आतंक की छिटपुट कार्रवाइयों को अंजाम दे रहे थे। क्रान्तिकारी आतंकवादियों की यह पहली पीढ़ी अतीतोन्मुखी थी और धार्मिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त थी। फिर भी औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध लड़ने और अपनी कार्रवाइयों से जनता में प्रेरणा का संचार करने के चलते उनमें प्रगतिशीलता का पहलू हावी था। इसके बाद ग़दर पार्टी और हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी (एच.आर.ए) के रूप में भारत की क्रान्तिकारी आतंकवादी धारा में जनवादी और सेक्युलर विचारों का प्रवेश होता है। इन संगठनों के क्रान्तिकारी फ्रांसीसी तथा अमरीकी क्रान्ति के विचारों से प्रेरित थे। युगान्तर-अनुशीलन के विपरीत ये संगठन जनवादी और सेक्युलर विचारों से लैस थे। इन संगठनों में सभी धर्मों और सभी जातियों के लोग शामिल थे। इन संगठनों का लक्ष्य बिना किसी समझौते के अंग्रेज़ों को देश से बाहर खदेड़ना था और एक जनवादी और सेक्युलर समाज का निर्माण करना था। और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे पूरी तरह आतंकी कार्रवाइयों पर आश्रित थे। इसके बाद 1920 में गाँधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन के कारण जनता में उम्मीद की एक नयी किरण जगी। आन्दोलन में पूरी जनता उमड़ पड़ी। कुछ समय के लिए क्रान्तिकारी आतंकवादी संगठनों ने भी आतंकवादी कार्रवाइयों को स्थगित कर दिया। लेकिन 1922 में चौरी-चौरा की घटना के बाद गाँधी ने अपना आन्दोलन अचानक वापस ले लिया। असहयोग आन्दोलन से जनता में जो उम्मीद जगी थी वो घोर निराशा में बदल गयी। यही वह दौर था जब भगतसिंह की पीढ़ी के युवा, क्रान्तिकारी संगठनों की ओर आकर्षित हुए। इसी दौर में **भारत के स्वतंत्रता संग्राम की क्रान्तिकारी आतंकवादी धारा पर 1917 की रूसी समाजवादी क्रान्ति का प्रभाव पड़ा। और भगतसिंह की अगुवाई में राष्ट्रीय मुक्ति के साथ ही समाजवाद को अपने अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया और हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी का नाम बदलकर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी (एच.एस.आर.ए.) रखा गया। लेकिन इस दौर का महत्व केवल यहीं तक सीमित नहीं है। एच.एस.आर.ए. के क्रान्तिकारियों ने भगतसिंह, सुखदेव और भगवतीचरण वोहरा के नेतृत्व में अपनी क्रान्तिकारी आतंकवादी राजनीति की आलोचना भी प्रस्तुत की और क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए मुट्ठीभर क्रान्तिकारियों की वीरता और आतंक की बजाय मज़दूर-किसान आबादी को संगठित करने की ज़रूरत को समझा।**

भगतसिंह और उनके साथियों के शुरुआती लेखों में जहाँ हम औपनिवेशिक सत्ताओं के प्रतिरोध के रूप में आतंकवाद की कारगरता की भूरि-भूरि प्रशंसा देखते हैं, वहीं बाद के वर्षों में जेल में रहते समय किये गये गहन अध्ययन के बाद हम उन्हें क्रान्तिकारी आतंकवाद की आलोचना करते हुए पाते हैं। 2 फ़रवरी 1931 को लिखे गये महत्वपूर्ण दस्तावेज़ **"क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा"** के पहले हिस्से **"नौजवान राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम पत्र"** में भगतसिंह लिखते

हैं, **"मैं पूरी ताक़त से यह कहना चाहता हूँ कि क्रान्तिकारी जीवन के शुरू के चन्द दिनों के सिवाय न तो मैं आतंकवादी हूँ और न ही था; और मुझे पूरा यक़ीन है कि इस तरह के तरीक़ों से हम कुछ भी हासिल नहीं कर सकते।"** इसी पत्र में एक और जगह वे कहते हैं: **"...बम का रास्ता 1905 से चला आ रहा है और क्रान्तिकारी भारत पर यह एक दर्दनाक टिप्पणी है। ...आतंकवाद हमारे समाज में क्रान्तिकारी चिन्तन की पकड़ के अभाव की अभिव्यक्ति है; या एक पछतावा। इस तरह यह अपनी असफलता का स्वीकार भी है। ...सभी देशों में इसका इतिहास असफलता का इतिहास है — फ़्रांस, रूस, जर्मनी में, बाल्कन देशों में, स्पेन में — हर जगह इसकी यही कहानी है। इसकी पराजय के बीज इसके भीतर ही होते हैं।"**

भगतसिंह के साथी शिव वर्मा भी इस बात की पुष्टि करते हैं और अपने लेख **"क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास"** में एक जगह कहते हैं:

"लाहौर तथा कानपुर के क्रान्तिकारियों ने 1926-27 से ही समाजवाद की ओर बढ़ना शुरू कर दिया था। आठ-नौ सितम्बर 1928 को दिल्ली मीटिंग में हालाँकि समाजवाद को सिद्धान्त के रूप में और समाजवादी समाज की स्थापना को अन्तिम उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया था, अमल में हम लोग उसी पुराने व्यक्तिवादी ढंग के कामों में ही लगे रहे। हम मज़दूरों, किसानों, युवकों और मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों को संगठित करने की बात तो करते थे लेकिन पंजाब में नौजवान भारत सभा के गठन को छोड़कर और कहीं भी संजीदगी से उस दिशा में क़दम उठाने की कोशिश नहीं की गयी। ...हम हिंसात्मक गतिविधियों को, जिसमें ज़ालिम सरकारी अधिकारियों की हत्या और छुटपुट विद्रोह शामिल थे, मज़दूरों, किसानों, युवकों और विद्यार्थियों के जन-संगठन बनाने के काम में मिलाना चाहते थे। लेकिन अमल में हमारा ज़ोर हिंसात्मक गतिविधियों और सशस्त्र कामों की तैयारी तक ही सीमित रहा।"

यह स्पष्ट है कि भगतसिंह और उनके साथी अपने शुरुआती राजनीतिक काल में क्रान्तिकारी आतंकवाद से प्रभावित थे। लेकिन पहले बाहर और फिर जेल के भीतर मार्क्सवाद के अपने गहन अध्ययन के बाद, उन्होंने क्रान्तिकारी आतंकवाद की आलोचना की थी और युवाओं को बहुसंख्यक मज़दूर-किसान आबादी को संगठित कर संघर्ष के लिए तैयार करने की सलाह दी थी। ऐसे में बिपिन चन्द्र ने अपनी पुस्तक में इस बारे में जो कुछ लिखा है वह ऐतिहासिक तथ्य है। और इसी ऐतिहासिक तथ्य को संघ और भाजपा ने भगतसिंह के अपमान के तौर पर प्रचारित किया है।

यह जानना भी दिलचस्प होगा कि जिन लोगों ने भगतसिंह के अपमान का मुद्दा उछाला है, भारत के स्वतंत्रता संग्राम में उनकी अपनी क्या भूमिका रही है। ग़ौरतलब है कि 1925 में अपने गठन से लेकर भारत के आज़ाद होने तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस) ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बड़े या छोटे, एक भी आन्दोलन में हिस्सा नहीं लिया। पूरे स्वतंत्रता संग्राम के दौरान वैसे तो आर.एस.एस का एक भी कार्यकर्ता जेल नहीं गया, लेकिन अगर भूले-भटके गया भी तो अंग्रेज़ों के सामने नाक रगड़कर और माफ़ीनामा लिखकर बाहर आ गया। हाँ, इस दौरान संघ की एक भूमिका अवश्य थी — क्रान्तिकारियों की मुख़बिरी करना, साम्प्रदायिक तनाव पैदा करके हिन्दू-मुस्लिम एकता को कमज़ोर करना, दंगे करवाना और इसके ज़रिये स्वतंत्रता संग्राम को कमज़ोर करना। आर.एस.एस. के उस दौर के पूरे साहित्य में आपको अंग्रेज़ों की तारीफ़ तो मिल जायेगी, लेकिन स्वतंत्रता संग्राम के दौरान कुर्बान होने वाले क्रान्तिकारियों के लिए एक शब्द भी नहीं मिलेगा। यह एक घिनौना मजाक ही तो है कि यही संघ और इसके अनुषंगिक संगठन आज सबसे बड़े देशभक्त बन बैठे हैं और खुद को भगतसिंह का वारिस बता रहे हैं। दरअसल, भारत के स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा न लेना आर.एस.एस के माथे पर सबसे बड़ा कलंक है। इस कलंक को धोने की वह कितनी भी कोशिश करे, उसे यह भली-भाँति पता है कि वह इसमें सफल नहीं हो सकता। यह भी एक कारण है कि आर.एस.एस. इतिहास के इस अध्याय को फिर से लिखना चाहता है।

भगतसिंह के अपमान के नाम पर बिपिन चन्द्र की पुस्तक पर जो हमला बोला गया है, वह अपने आपमें कोई अलग-थलग घटना नहीं है। यह मोदी के सत्तासीन होने के बाद से ही जारी शिक्षा के भगवाकरण की मुहिम का एक हिस्सा है। इसी मुहिम के तहत प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में दीनानाथ बत्रा जैसे संघ "विचारकों" की पुस्तकों को शामिल किया जा रहा है। और इसी के तहत पुस्तकों में से ऐसी घटनाओं को हटाया जा रहा है, जिनसे संघ व उसकी विचारधारा के अनुयायी असहज महसूस करते हैं। मसलन, **राजस्थान में सातवीं कक्षा की सामाजिक विज्ञान की पुस्तक में से नाथूराम गोडसे द्वारा गाँधी की हत्या की घटना को हटा दिया गया है। ...**

(पेज 29 पर जारी)

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश : • जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8-00 तक) • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू वाराणसी • विशाल विक्रम सिंह रूम नं-310 बिड़ला हॉस्टल-बी, बीएचयू वाराणसी • कुँवर सन्दीप कुमार सिंह-कुसुमविला, कॉलेज रोड़, मन्दिर लेन, उन्नाव।

दिल्ली : • अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनॉट प्लेस, • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस।

बिहार : • विक्रान्त कुमार, द्वारा- हीरालाल, कुट्टी मशीन गली, गोसाईं टोला, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013 • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो- करनौल, जिला मुजफ्फरपुर • डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, शब्दसदन, सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच. 3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, जिला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग, पटना • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर (बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, भाया-ईस्लामपुर, नालन्दा।

राजस्थान : • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर • ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ़ कोर्स स्कीम, एयर फ़ोर्स, जोधपुर।

हरियाणा : • डॉ. सुखदेव हुन्दल, ग्राम व पोस्ट सन्तनगर वाया जीवन नगर, सिरसा • शहीद-ए-आज़म लाईब्रेरी, गोल मार्केट, हाऊसिंग बोर्ड कॉलोनी रेलवे रोड़, नरवाना, जिला-जीन्द • हैप्पी बुक डिपो, स्टूडेण्ट एक्टिविटी सेण्टर, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यायल, रोहतक।

महाराष्ट्र : • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, रूम नं.: 103, बिल्डिंग: 61-ए, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, मानखुर्द, मुम्बई (पश्चिम) • गोपाल नायडू कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्टी, अजनी रोड, नागपुर • हर्ष ठाकोर, हरबंश, चतुर्थ तल, नूतन लक्ष्मी सोसायटी, 8 जी रोड, जूहू विले पारले डेब्लपमेण्ट स्कीम, मुम्बई।

पंजाब : • जनचेतना, दुकान नं-8, पंजाबी भवन, लुधियाना • मज़दूर पुस्तकालय, मकान नं-4135, ई-डब्ल्यू.एस. कालोनी, दयाल पब्लिक स्कूल के सामने, ताजपुर रोड, लुधियाना • शहीद भगत सिंह भवन, सोलोआणी रोड, नजदीक टाहली आणा साहिब गुरूद्वारा, रायकोट, लुधियाना • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, मण्डी गोबिन्दगढ़ • पंजाब बुक सेण्टर, एस.सी.ओ. 1126-27, सेक्टर-22 बी, चण्डीगढ़ • लायल बुक डिपो, पंजाब यूनीवर्सिटी मार्केट, सेक्टर-14, चण्डीगढ़ • सुरिन्दर स्टेशनर्स, शॉप नम्बर-35, सेक्टर-14, पी.यू. मार्केट, सेक्टर-14, चण्डीगढ़ • एलाइड बुक सेण्टर, शॉप नम्बर-50, सेक्टर-15 डी, चण्डीगढ़ • स्टैण्डर्ड बुक डिपो, एस.सी.ओ. 78, सेक्टर-15, चण्डीगढ़।

मध्यप्रदेश : • संजय बुक स्टॉल, शाप नं- 43, ग्वालियर।

हिमाचल प्रदेश : • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, पंवार लॉज, एयरपोर्ट रोड, टूटु, शिमला (11) • सुरेश सेन निशान्त, गाँव सलाह, डाक- सुन्दरनगर-1, जिला-मण्डी।

उत्तराखण्ड : • संजय वर्मा, वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, पो-सोमेश्वर, जिला-अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, जिला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल' द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नज़दीक उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • अल्मोड़ा किताबघर द्वारा श्री शमशेर सिंह बिष्ट नियर यूनिवर्सिटी कैम्पस, मालरोड, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़

जम्मू : • श्री पुरुषोत्तम लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय।

छत्तीसगढ़ : • श्री देवांशु पाल, सं – 'पाठ', गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, विलासपुर, छत्तीसगढ़

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का 'आह्वान' का नया और पुराने अंक तथा आह्वान पुस्तिकाएँ आप निम्नलिखित वैबसाइट से भी प्राप्त कर सकते हैं : www.ahwanmag.com, इसके अलावा आप आह्वान के लेख व्हाट्सएप पर भी पा सकते हैं बस आपको 9892808704 (सत्यनारायण) फ़ोन नम्बर अपनी फ़ोन सूची में जोड़कर व्हाट्सएप से इस पर लेख प्राप्ति हेतु सन्देश भेजना होगा, धन्यवाद।

विश्व पटल पर

गहराता विश्व आर्थिक संकट और जी-20 बैठक

● मानव

अप्रैल 2016 के दूसरे हफ्ते में विश्व के सबसे बड़े पूँजीवादी देशों के गुट जी-20 की एक बैठक चीन के शंघाई शहर में सम्पन्न हुई। यह बैठक मौजूदा वैश्विक आर्थिक मन्दी की सूरते-हाल के बारे में चर्चा करने के लिए व इस संकट से उबरने के उपायों को खोजने के लिए बुलायी गयी थी। यह चीन के शहर हांगझू में इसी साल सितम्बर को होने वाली जी-20 की बड़ी बैठक का एक तरह से ट्रेलर ही थी और इस बैठक से काफी हद तक यह स्पष्ट हो गया कि सितम्बर की बैठक में किस तरह के सवाल उठेंगे व क्या सुझाव आने हैं। **इस बैठक के बाद जारी किये गये आधिकारिक बयान में विश्व पूँजीवाद के प्रमुख नेताओं ने यह माना कि आर्थिक संकट से अभी निजात नहीं मिली है, बल्कि यदि जल्द ही कुछ न किया गया तो आने वाले समय के अन्दर एक और मन्दी दहाने पर खड़ी है।** इस बैठक से कुछ दिन पहले ही विश्व मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) ने एक रिपोर्ट जारी की थी जिसमें आई.एम.एफ. ने वैश्विक आर्थिक दर की वृद्धि के बारे में अपने पहले के अनुमानों को घटा दिया है। रिपोर्ट में कहा गया कि साल 2016 के दौरान वैश्विक आर्थिकी 3.2% की रफ़्तार से बढ़ेगी। यह वैश्विक आर्थिकी 3.4% की रफ़्तार के उस आँकड़े से कम है जो आई.एम.एफ. ने अभी तीन महीने पहले ही जारी किये थे। इससे पहले फरवरी 2015 में भी वैश्विक व्यापार के आँकड़े प्रकाशित हुए थे जिनमें दिखाया गया था कि यदि माल के व्यापार (ट्रेड इन गुड्स) के पहलू से देखा जाय तो साल 2015 में विश्व व्यापार 13.9% तक कम हुआ है। इन दोनों रिपोर्टों ने और जी-20 देशों की बैठक ने यह तो स्पष्ट कर दिया कि विश्व पूँजीवाद में चल रहे आर्थिक संकट से राहत मिलने की फ़िलहाल कोई उम्मीद नज़र नहीं आ रही है। इस संकट से निजात पाने के लिए कुछ सुझाव इस बैठक में दिये गये। पूँजीवादी सरकारों की ओर से लम्बे समय से संकट से निजात पाने के लिए भी प्रयास किये जा रहे हैं। **आइये विश्व पूँजीवाद के इन नीम हकीमों की पुड़ियों और घुट्टी की पड़ताल करें जिनसे ये आर्थिक संकट दूर करने का आश्वासन दे रहे हैं।**

आर्थिक संकट से उबरने के लिए पूँजीवादी अर्थशास्त्री दो तरह की नीतियों को प्रस्तावित करते हैं- एक **मौद्रिक नीति** और दूसरी **राजकोषीय नीति**। मौद्रिक नीति किसी देश की केन्द्रीय बैंक की ओर से तय की जाती है, जैसे भारत में भारतीय रिज़र्व बैंक तय करता है। इस नीति के ज़रिये ब्याज दरों को प्रभावित किया जाता है। यदि ब्याज दरें घटायी जायें तो इससे केन्द्रीय बैंकों पर निर्भर सभी बैंकों को सस्ता पैसा मिलेगा जो कि वह आगे निवेशकों (पूँजीपतियों) को और आम लोगों को सस्ती दरों पर प्रदान कर सकेंगे। सस्ते ब्याज पर कर्ज़ मिलने से जहाँ एक ओर पूँजीपतियों को निवेश करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा, वहीं दूसरी ओर आम लोग भी खरीददारी के लिए प्रेरित होंगे। मतलब कुल मिलाकर यह उम्मीद की जाती है कि आर्थिक निवेश बढ़ेगा और अर्थव्यवस्था आहिस्ता-आहिस्ता पटरी पर आ जायेगी।

राजकोषीय नीति के ज़रिये सरकार घटी हुई माँग को प्रभावित करने के लिए सीधे दखल देती है। यह दखल लोगों और पूँजीपतियों की आय पर टैक्स कम करने के रूप में हो सकती है या फिर बुनियादी संरचनात्मक ढाँचा, निर्माण आदि में सरकारी निवेश के ज़रिये हो सकती है। यह नीति इस बुनियाद पर आधारित होती है कि सरकारी निवेश से लोगों को रोज़गार मिलेगा, रोज़गार मिलने से लोगों के पास तनख्वाह के रूप में पैसा आयेगा और इस पैसे से वे ख़रीददारी करेंगे, यानी आर्थिक माँग बढ़ेगी। इस बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए और निवेश होगा और इसी तरह पूरी अर्थव्यवस्था विकास के रास्ते पर चल पड़ेगी। इसे बुर्जुआ अर्थशास्त्र में 'मल्टीप्लायर इफेक्ट' भी कहा जाता है। बुर्जुआ अर्थशास्त्री **कीन्स** द्वारा आर्थिक संकट के हल के लिए सुझाया गया रास्ता भी इसी सरकारी दख़ल पर ज़ोर देता है।

इस तरह, चाहे मौद्रिक नीति हो या फिर राजकोषीय नीति,

दोनों इस बात को तय मानकर चलते हैं कि आर्थिक संकट का कारण अल्पतर माँग है, कि माँग कम होने की वजह से अर्थव्यवस्था में निवेश भी कम होता है और इसके नतीजे के तौर पर आर्थिक वृद्धि भी प्रभावित होती है और बेरोज़गारी आदि बढ़ती है। जबकि वास्तव में होता इसके विपरीत है। माँग कम होने से आर्थिक संकट पैदा नहीं होता, बल्कि अल्पतर माँग आर्थिक संकट का सिर्फ लक्षण मात्र है। **पूँजीवादी आर्थिक संकट 'अतिउत्पादन' का संकट होता है जिसका आधार यह निजी मालिकाने पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था है। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का केंद्र मनुष्य नहीं बल्कि मुनाफ़ा होता है, यानी कि उत्पादन बाज़ार के लिए होता है। उत्पादन की प्रक्रिया में पूँजीपति उत्पादन खर्च को लगातार घटाने की कोशिश करते हैं। ऐसा वे श्रम की उत्पादकता को बढ़ाकर या श्रम-काल को निरपेक्ष रूप से बढ़ाकर करते हैं। दोनों ही तरीक़ों से मज़दूर वर्ग का शोषण बढ़ने के फलस्वरूप व्यापक मज़दूर आबादी और अधिक ग़रीब होती जाती है और बड़ी आबादी को काम से निकाल बाहर कर दिया जाता है। हरेक पूँजीपति अधिक से अधिक उत्पादन करने की कोशिश करता है जिसका परिणाम यह होता है कि एक तरफ़ बाज़ार माल से पट जाते हैं और दूसरी तरफ़ उन्हें ख़रीदने के लिए पर्याप्त ख़रीददार नहीं होते, यह "अतिउत्पादन" पूँजीवादी संकट का मूल है। ज़ाहिरा तौर पर जब पहले का ही पैदा किया गया माल नहीं बिकता तो पूँजीपति नया निवेश क्यों करेगा? इसीलिए नये उद्योग नहीं लगते, बल्कि पहले वाले भी बन्द होने लगते हैं। इस से बेरोज़गारी बढ़ती है जो पहले ही घटी हुई माँग को और कम कर देती है।**

अब देखते हैं कि आर्थिक संकट के बाद अपनाये गये तरीकों का अर्थव्यवस्था पर क्या असर हुआ है और मौजूदा जी-20 बैठक में कौन से नये सुझाव शामिल किये गये हैं? आर्थिक संकट के बाद पूँजीवादी सरकारों का मुख्य ज़ोर मौद्रिक नीति पर ही रहा है। विश्व-भर के प्रमुख केन्द्रीय बैंकों ने पहले ब्याज दरों को इस उम्मीद के साथ घटाया कि इससे निवेश बढ़ेगा, लेकिन हुआ इसके विपरीत। **आर्थिक संकट के दौरान नया उत्पादक निवेश न होने या कम होने का कारण पूँजी की कमी होना नहीं है, बल्कि ऐसा इसीलिए होता है कि पूँजीपतियों को पैसा निवेश करने के लिए कोई क्षेत्र नहीं मिलता क्योंकि बाज़ार पहले ही की गयी पैदावार की वजह से मालों से पटे होते हैं। पहले पुराना माल बिकेगा तभी नये के लिए जगह बन पायेगी! तो फ़िर आखिर इस सस्ते कर्ज़ का पूँजीपतियों ने किया क्या? उन्होंने बैंकों से ये सस्ते कर्ज़ लेकर शेयर-बाज़ार में सट्टा लगाया ताकि रातों-रात मुनाफ़ा बटोरा जा सके। इसलिए अर्थव्यवस्था में कोई नया उत्पादक निवेश तो नहीं हुआ लेकिन इस सट्टेबाज़ी से वित्तीय सट्टेबाज़ों ने अतिरिक्त मुनाफ़ा ज़रूर कमाया।** घरेलू माँग के ऊपर भी इन कम दरों का कोई ख़ास असर नहीं हुआ क्योंकि संकट के बाद से लोगों से लगातार रोज़गार छिनता जा रहा था व असुरक्षा की एक तलवार लटक रही थी, उजरतें कम हो रही थीं, इसीलिए लोगों के लिए कर्ज़ तो क्या, ब्याज चुकाना भी बेहद कठिन था। इसीलिए लोगों ने ये कर्ज़ लेने में ख़ास दिलचस्पी नहीं दिखायी जिसका परिणाम लगातार घटती माँग के रूप में सामने आया।

इसके बाद तो विश्व-भर के केन्द्रीय बैंकों ने ब्याज-दरें शून्य भी कर दीं लेकिन जब इससे भी काम नहीं बना तो विश्व के प्रमुख केन्द्रीय बैंकों ने एक अप्रत्याशित सा कदम उठाया - उन्होंने **इतिहास में पहली बार ब्याज-दरों को 'नेगेटिव' (नकारात्मक) कर दिया!** यानी, केन्द्रीय बैंक अब उन सारे बैंकों से खर्चा वसूलने लगे जिन्होंने केन्द्रीय बैंकों के पास अपना पैसा रखा था। ऐसा इसीलिए किया गया ताकि बैंक हर हालत में कर्ज़ दें ताकि अर्थव्यवस्था में निवेश हो। लेकिन हुआ क्या? बैंकों को केन्द्रीय बैंकों से सस्ता कर्ज़ मिल रहा था और कर्ज़ न देने की सूरत में जुर्माना भी लगाया जा रहा था, वहीं उत्पादक निवेश की सम्भावनाएँ भी नहीं थीं। इसीलिए बैंकों ने यह सारा पैसा रीयल एस्टेट और शेयर बाज़ार में लगा दिया। इस 'नेगेटिव' ब्याज दर नीति ('नेगेटिव इण्ट्रेस्ट रेट पॉलिसी') के फ़ेल होने का एक प्रातिनिधिक उदाहरण स्वीडन है जहाँ बैंकों द्वारा की गयी सट्टेबाज़ी के कारण घरों की कीमतें पिछले तीन साल में ही लगभग एक-तिहाई से ज्यादा बढ़ चुकी हैं। इसी तरह जापान में भी इस नीति के कोई सकारात्मक नतीजे नहीं निकले हैं।

ब्याज-दरें कम करने का एक और भी नतीजा निकला है। यदि कोई देश ब्याज-दरों को कम करता है तो उस देश की सरकार की ओर से जारी किये गये 'बॉण्डों' में विदेशी निवेशक अपना पैसा निवेश करने से कतराते हैं क्योंकि उनको इसके बदले में काफी कम ब्याज मिलेगा। इसीलिए ऐसे देश की मुद्रा की माँग अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में घटती है जिसके नतीजे के तौर पर उसके मूल्य में भी गिरावट आती है। किसी देश की मुद्रा के मूल्य में गिरावट होने से उस देश का माल दूसरे देशों के लोगों के लिए सस्ता हो जाता है। जैसे, यदि 1 अमरीकी डॉलर की कीमत 60 रुपए से 50 रुपये पर आ जाये तो इसका मतलब होगा कि रुपया डॉलर के मुकाबले मज़बूत हो गया है और अमरीकी डॉलर का मूल्य रुपये के मुकाबले कम हो गया है। अब भारत के लोगों को 1 डॉलर की कीमत वाली अमरीकी घड़ी के लिए पहले 60 रुपए देने पड़ते थे तो अब उन्हें 50 रुपये ही देने पड़ेंगे यानी अमरीका से भारत की ओर होने वाला निर्यात बढ़ जायेगा और भारत की ओर से अमरीका को जाने

वाले माल की माँग में कमी आयेगी। इस वजह से भारत का व्यापार सन्तुलन ('ट्रेड बैलेंस') बिगड़ेगा। इसलिए ही बड़े-बड़े साम्राज्यवादी देशों के दरमियान (ख़ासकर आजकल चीन और अमरीका के बीच) मुद्रा के मूल्य में की गयी गिरावट तीखी राजनीतिक कशमकश का रूप ले लेती है जिस वजह से हर देश दूसरे को इस तरीके से पछाड़ने का प्रयास करता है (इन नीतियों को अर्थशास्त्र की भाषा में 'बेग्गर थि नेबर' नीतियाँ भी कहते हैं) और नतीजे के तौर पर पूरी वैश्विक आर्थिकता पर घातक असर पड़ता है।

मौद्रिक नीति की इस नाकामयाबी को देखने के बाद ही इस जी-20 बैठक में राजकोषीय नीतियों को लागू करने के बारे में विचार किया गया था लेकिन यहाँ भी वही अन्तर-साम्राज्यवादी अन्तरविरोध खुलकर सामने आये। अमरीका ने बैठक में जर्मनी के ऊपर दबाव बनाने की कोशिश की कि वह राजकोषीय नीतियों को लागू करे, कि जर्मन सरकार बुनियादी संरचनात्मक ढाँचे पर भारी निवेश करे। लेकिन जर्मनी ऐसा नहीं करना चाहता क्योंकि जर्मनी में सरकारी कर्ज़ सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के हिस्से के तौर पर पहले ही बहुत ज़्यादा है। दूसरी ओर अमरीका ने चीन से भी माँग की कि वह भी सरकारी निवेश के ज़रिये अपनी घरेलू माँग को बढ़ावा दे। लेकिन चीनी सरकार पिछले लम्बे समय से ऐसी ही नीति पर चल रही है। पिछले कई साल से वहाँ सरकार लगातार बुनियादी ढाँचा, नये शहरों और रीयल एस्टेट आदि को खड़ा करती रही थी। लेकिन सरकार की ओर से फुलाया गया यह गुब्बारा एक न एक दिन तो फटना ही था क्योंकि इतने सारे घरों को खरीदने वाले ही नहीं थे। इसी वजह से रीयल एस्टेट क्षेत्र भी भारी मन्दी का शिकार हो गया और इस प्रक्रिया के दौरान सरकार के ऊपर भारी कर्ज़ भी चढ़ गया। इस समय चीनी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर काफी कम हो चुकी है और आने वाले समय में और भी कठिन हालातों की पूरी सम्भावना जतायी जा रही है। इसीलिए अमरीका के इन सुझावों को चीन ने भी अनसुना ही किया।

कुछ समय पहले एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी कि **अमरीका और यूरोप में सरकारी सहूलियतों, बुनियादी ढाँचे आदि पर होने वाला सरकारी निवेश पिछले 30 साल के मुकाबले सब से निचले स्तर पर है।** अमरीका में सरकार इस क्षेत्र में सकल घरेलू उत्पाद का केवल 0.5% ही निवेश करती है। फिर भी सरकार इस ओर निवेश क्यों नहीं कर रही? क्या इस तरीके से अमरीकी अर्थव्यवस्था को कुछ समय के लिए राहत नहीं मिलेगी? हाँ, इस से अमरीकी अर्थव्यवस्था को कुछ सहारा हो सकता है लेकिन यहाँ एक और कारक भी काम करता है और वह है सरकार पर चढ़े भारी कर्ज़े का। सरकार के पास आय का ज़रिया लोगों और पूँजीपतियों से इकट्ठा किया गया टैक्स ही होता है। वह इसी आय में से खर्च कर सकती है। यदि यह कम पड़े तो फिर सरकारी 'बॉण्ड' जारी करके यानी कर्ज़ लेकर उसको साधन इकट्ठे करने पड़ते हैं। अब अमरीका की (और तकरीबन सभी प्रमुख पूँजीवादी देशों की) हालत यह है कि आर्थिक संकट के बाद, अमरीकी सरकार ने बैंकों को खरबों डॉलर के बेल-आउट पैकेज दिये जिस वजह से उसके ऊपर अब भारी कर्ज़ है। बुनियादी ढाँचे के ऊपर खर्चा बढ़ाने के लिए वह पूँजीपतियों के मुनाफ़ों को लगाम नहीं लगा सकते क्योंकि ऐसा होने की सूरत में पूँजीपति इसका विरोध करेंगे और अपनी पूँजी अमरीका से बाहर स्थानान्तरित करने की कोशिश करेंगे जिसका अमरीकी आर्थिकी पर बुरा असर पड़ेगा। इसीलिए सरकार के पास एक ही रास्ता बचता है कि वह लोगों से टैक्स की ज़्यादा वसूली करे। लेकिन आर्थिक संकट के चलते लोगों की वास्तविक आय में कमी आयी है, साथ ही बेरोज़गारी भी बढ़ी है और बहुत सारे लोग तो सरकारी सहायता पर निर्भर हैं जिन पर कोई टैक्स नहीं लगाया जा सकता। इसीलिए इस स्रोत से भी पैसा जुटने की सम्भावना नज़र नहीं आ रही है।

अतः मौद्रिक नीतियों के असफ़ल होने और राजकोषीय नीतियों की कारगरता पर पहले ही सवाल उठने से विश्व के पूँजीवादी अर्थशास्त्री और अगुआ अँधेरे में सिर भिड़ा रहे हैं। सितम्बर माह में चीन में होने वाली बैठक में भी इस अन्धी सुरंग का कोई रास्ता निकलने की उम्मीद नहीं है और वास्तव में ऐसा कोई रास्ता इस ढाँचे के भीतर मौजूद भी नहीं है। सिर्फ़ पैदा किये गये मालों की बड़े पैमाने पर तबाही के ज़रिये और इसके नतीजे के तौर पर **करोड़ों लोगों को तबाही के दहाने की ओर धकेल कर ही यह ढाँचा अपने लिए अल्पकालिक साँस ले सकता है। सितम्बर महीने की बैठक में जो भी फैसला हो, इतना तय है कि विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक नये और बड़े संकट की ओर अग्रसर है।** ●

"जब तक हिरण अपना इतिहास ख़ुद नहीं लिखेंगे तब तक हिरणों के इतिहास में शिकारियों की शौर्यगाथाएँ गायी जाती रहेंगी।"

-चिनुआ अचेबे

(नाइजीरिया के जनपक्षधर साहित्यकार)

सामयिकी

विधान सभा चुनावों के नतीज़े : हिन्दुत्ववादी फासीवाद के आगे बढ़ते कदम

● कविता कृष्णपल्लवी

गत 19 मई को असम, केरल, बंगाल, तमिलनाडु और पुडुचेरी के विधानसभा चुनावों के नतीजे आने के बाद संघ परिवार में जश्न का माहौल छा गया। हिन्दुत्ववादी फासीवादियों के हौसले बुलन्द हैं और वे अपना एजेण्डा लागू करने की मुहिम में नये जोशोख़रोश के साथ जुट गये हैं।

असम में भाजपा ने कुल 136 में से 60 सीटें हासिल की जबकि उसके सहयोगी असम गण परिषद ने 14 और बोडो पीपुल्स फ्रण्ट ने 12 सीटों पर जीत दर्ज़ की है। कांग्रेस 26 सीटों पर सिमट गयी और बदरुद्दीन अजमल की ए.आई.यू.डी.एफ. के खाते में 13 सीटें गयीं। **पूर्वोत्तर भारत में भाजपा की यह पहली कामयाबी है जिसके बाद मेघालय, नागालैण्ड, मणिपुर और अरुणाचल प्रदेश को भी लक्ष्य बनाकर संघ परिवार ने अपने ज़मीनी काम को तेज़ और सघन करना शुरू कर दिया है।** इसके साथ ही भाजपा समूचे पूर्वोत्तर भारत की विभिन्न उपराष्ट्रीयताओं की पहचान राजनीति से प्रेरित आपसी टकरावों का लाभ उठाने, विभिन्न राजनीतिक ग्रुपों के साथ जोड़तोड़ और समीकरण बैठाने तथा कांग्रेस के असंतुष्टों को तोड़कर पूर्वोत्तर के सभी राज्यों में असम के उस प्रयोग को दुहराने के लिए व्यग्र हो गयी है, जिसे मुख्यत: संघ विचारक राममाधव ने अंजाम दिया। जम्मू-कश्मीर के बाद असम राममाधव की दूसरी सफलता रही।

पं.बंगाल में ममता बनर्जी की तृणमूल कांग्रेस 211 सीटें पाकर पहले से भी अधिक ताक़त पाकर वापस लौटी है। कांग्रेस के साथ मोर्चा बनाकर भी वाम गठबन्धन कुल 33 सीटों पर सिमट कर रहक गया, जबकि कांग्रेस ने कुल 44 सीटें हासिल की। गौरतलब बात यह रही कि भाजपा गठबन्धन ने 6 सीटें जीतकर अपनी सीटों में दूने की बढ़ोत्तगरी कर ली।

तमिलनाडु में कोई गठबन्धन नहीं करने के बावजूद, और पूर्ववर्ती विधानसभा की सीटों में से 15 खोने के बावजूद 134 सीटें पाकर जयललिता की पार्टी अन्ना द्रमुक दुबारा सरकार बनाने में सफल रही (1984 के बाद यह पहली बार हुआ), जबकि पहले की तुलना में 67 सीटें अधिक पाने के बावजूद द्रमुक गठबन्धन (द्रमुक 89+कांग्रेस 8) सत्ता के शिखर तक नहीं पहुँच सका। भाजपा ने इस राज्य में भी अपना वोट प्रतिशत हिस्सा कुछ बढ़ाने में कामयाबी हासिल की।

केरल में पुरानी परिपाटी को दुहराते हुए कांग्रेस नीत संयुक्त लोकतांत्रिक मोर्चे (47 सीटें) को हराते हुए माकपा नीत वाम लोकतांत्रिक मोर्चे (91 सीटें) ने जीत हासिल की। यहाँ भी महत्वमपूर्ण यह रहा कि अपने वोट प्रतिशत हिस्से में 10 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी करने के साथ ही भाजपा ने एक सीट पर जीत भी हासिल की।

केन्द्र शासित प्रदेश पुडुचेरी की 30 सदस्यीय विधानसभा में रंगासामी की ए.आई.एन.आर.सी. को शिकस्त देते हुए कांग्रेस-द्रमुक गठबन्धन ने कुल 17 सीटें हासिल की।

●

इन चुनाव परिणामों का विश्लेषण करते हुए हमें इसके कई पहलुओं और उनकी बारीकियों की पड़ताल करनी होगी और साथ ही इनके विश्लेषणों का भी विश्लेषण करना होगा। **निस्सन्देह इन चुनाव परिणामों ने भाजपा और समूचे संघ परिवार की आक्रामक फासिस्ट मुहिम की सफलता के महत्वपूर्ण संकेत दिये हैं और जिन आँकड़ों-तथ्यों के हवाले से तमाम संसदीय वाम पार्टियाँ और बहुतेरे वाम बुद्धिजीवी मन को तसल्ली देने वाले ख़याली पुलाव पका रहे हैं और हिन्दुत्ववादी फासीवाद की बढ़ती बर्बरता की सम्भावनाओं को लेकर अभी भी 'डिनायल मोड' में दिख रहे हैं, यह ख़तरनाक है।** इसकी चर्चा हम आगे करेंगे, लेकिन इसके पहले इस तथ्य को भी समझना ज़रूरी है कि देश के इजारेदार पूँजीपति घरानों की गिरफ़्त में जकड़ी मुख्यधारा की मीडिया द्वारा यह दर्शाना कितना भ्रामक है कि पूरे देश की बहुसंख्यक जनता ने मोदी सरकार की विचारधारा और नीतियों पर स्वीकृति की मुहर जोरदार ढंग से लगा दी है। यह एक विशुद्ध गोयबल्सीय शैली का प्रचार है। हाँ, लेकिन यह भी सच है कि **बुर्जुआ जनवादी संसदीय प्रणाली में कहीं भी, कभी भी, बहुमत पाने वाली पार्टी वास्तव में बहुसंख्यक जनता की नुमाइन्दगी नहीं करती। इस तरह फासिस्टों को भी सत्ता के शीर्ष तक पहुँचने के लिए बहुसंख्यक जनता की स्वीकृति की नहीं बल्कि सीटों के हिसाब से बहुमत मात्र की दरकार होती है।** नीचे तथ्यों और

आँकड़ों के विश्लेषण से हमारी यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

गत 19 मई को चुनाव परिणाम आने के बाद 20 मई को कई राष्ट्रीय समाचार पत्रों ने भाजपा की "विजय-दुन्दुभि" को प्रतिध्वनित करते हुए इस तथ्य को विशेष तौर पर रेखांकित किया कि भाजपा अब भारत के 35.37 प्रतिशत आबादी क्षेत्र पर काबिज है, जबकि कांग्रेस मात्र 7 प्रतिशत पर सिमटकर रह गयी है। लेकिन मात्र इतना ही कहने से यथार्थ की जो तस्वीर उभरती है, वह यथार्थ को सही-सटीक ढंग से दर्शाती नहीं है। पहली बात यह कि कांग्रेस और भाजपा (अपने सहयोगियों के साथ) राज्यों में सरकार बनाने के हिसाब से कुल 43 प्रतिशत आबादी क्षेत्र पर ही काबिज हैं। शेष 57 प्रतिशत पर अभी भी क्षेत्रीय बुर्जुआ पार्टियाँ और संसदीय वाम दल काबिज हैं।

अब ज़रा कुछ और आँकड़ों पर निगाह डालें। केन्द्रशासित राज्य पुडुचेरी को (जहाँ कांग्रेस-द्रमुक गठबन्धन ने सरकार बनायी है और जहाँ भाजपा की उपस्थिति नगण्य है) यदि छोड़ दें, तो **तमिलनाडु , प.बंगाल, केरल और असम इन चार राज्यों में भाजपा को कुल 1 करोड़ 39 लाख, जबकि कांग्रेस को 1 करोड़ 95 लाख वोट मिले हैं और संसदीय वाम दलों को 2 करोड़ 24 लाख वोट मिले हैं। यही नहीं, सहयोगियों को यदि छोड़ दें तो किसी भी राज्य में अकेली भाजपा को अकेली कांग्रेस से अधिक वोट नहीं मिले हैं।** चार राज्यों की कुल 792 सीटों में से कांग्रेस और उसके सहयोगियों को 215 (यानी 27 प्रतिशत सीटें) तथा भाजपा और सहयोगियों को 90 (यानी 11 प्रतिशत सीटें) मिली हैं, शेष 62 प्रतिशत सीटें क्षेत्रीय बुर्जुआ दलों और संसदीय वाम दलों को मिली हैं। जो क्षेत्रीय पार्टियाँ कांग्रेस या भाजपा के साथ नहीं गयीं उन्होंने कुल 358 सीटें पायीं जो कांग्रेस+भाजपा (305 सीटें) से अधिक रही। अब जरा चार राज्यों में भाजपा और कांग्रेस के वोट प्रतिशत की भी तुलना कर ली जाये:

राज्य	भाजपा(मत प्रतिशत)	कांग्रेस(मत प्रतिशत)
असम	29.5	31
बंगाल	10.2	12.37
केरल	10.5	23.7
तमिलनाडु	2.8	6.4

पाँच राज्यों के विधानसभा चुनावों में अलग-अलग पार्टियों और गठबन्धनों के वोट प्रतिशत पर भी ज़रा नज़र दौड़ा ली जाये:

असम :- भाजपा और सहयोगी - 42 प्रतिशत, कांग्रेस और सहयोगी-31 प्रतिशत, ए.आई.यू.डी.एफ.-13 प्रतिशत, अन्य-14 प्रतिशत।

पं.बंगाल:- तृणमूल कांग्रेस - 45 प्रतिशत, कांग्रेस+वाम मोर्चा - 39 प्रतिशत (वाम मोर्चा 27 प्रतिशत, कांग्रेस 12 प्रतिशत), भाजपा 11 प्रतिशत, अन्य - 5 प्रतिशत।

तमिलनाडु:- अन्ना द्रमुक - 41 प्रतिशत, द्रमुक+कांग्रेस-38 प्रतिशत(द्रमुक- 32 प्रतिशत, कांग्रेस-6 प्रतिशत), पी.एम.के - 5 प्रतिशत, डी.एम.डी.के.- 6 प्रतिशत, अन्य (-7 प्रतिशत)।

केरल :- वाम लोकतांत्रिक मोर्चा - 44 प्रतिशत, संयुक्त लोकतांत्रिक मोर्चा - 37 प्रतिशत, भाजपा - 14 प्रतिशत, अन्य - 5 प्रतिशत।

पुडुचेरी:- कांग्रेस+द्रमुक - 40 प्रतिशत, ए.आई.एन.आर.सी. - 28 प्रतिशत, अन्नाद्रमुक - 17 प्रतिशत, अन्य-15 प्रतिशत।

बुर्जुआ मीडिया और भाजपाई भोंपू मोदी की देशव्यापी स्वीतकार्यता का शोर इस क़दर मचाते हैं कि लगता है मानो बहुसंख्यक जनता ने हिन्दुत्ववादी फासीवाद और उसकी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को दोनों हाथ उठाकर स्वीकृति दे दी हो। लेकिन यह सब बुर्जुआ संसदीय जनतंत्र में अल्प मत-बहुमत के करामाती खेल का कमाल भर है, यह समझने के लिए एक बार फिर यह याद दिला देना काफ़ी होगा कि 2014 में मोदी को लोकसभा चुनावों में 31 प्रतिशत मत मिले थे, जो कुल मतदाताओं के 20 फीसदी से थोड़ा ही अधिक बैठता है। 1984 के उन लोकसभा चुनावों को छोड़कर, जिनमें कांग्रेस इन्दिरा गाँधी की हत्या से पैदा हुई सहानुभूति-लहर पर सवार थी, भारत में कभी भी किसी चुनाव में जीतने वाली पार्टी या गठबन्धन को 50 प्रतिशत से अधिक मत नहीं मिले हैं।

●

उपरोक्त तथ्यों और आँकड़ों की प्रस्तुति के पीछे हमारा मंतव्य खास तौर पर यह दर्शाना है कि समूचा बुर्जुआ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और प्रिण्ट मीडिया तथा भाजपाई प्रचार तंत्र जिस रूप में विधानसभा चुनावों में भाजपा की सफलता को दिखला रहे हैं और इसे मोदी सरकार की नीतियों एवं कारगुजारियों की लगातार बढ़ती जनस्वीकार्यता के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, उस ढोल की पोल क्या है! आम तौर पर हमारा मन्तव्य यह स्पष्ट करना है कि **बुर्जुआ संसदीय प्रणाली में अल्पमत-बहुमत का खेल कितना भ्रामक होता है और इस विधि से प्राप्त जनादेश वस्तुत: बहुसंख्यक जनसमुदाय की वास्तविक आकांक्षाओं को सटीकता के साथ अभिव्यक्ति कर ही नहीं सकता। लेकिन यह बात केवल भाजपा की वर्तमान सफलता के सन्दर्भ में नहीं बल्कि समूची संसदीय चुनाव प्रणाली के साथ लागू होती है।** इन्हीं तथ्यों और आँकड़ों के आधार पर इन दिनों संसदीय वाम दलों के प्रवक्ता, नेता और विश्लेषक तथा कुछ सामाजिक

जनवादी मिजाज के वाम बुद्धिजीवी यह साबित करके खुद को तसल्ली देने की कोशिश कर रहे हैं कि भाजपाई लहर अब उतार पर है। वे बार-बार यह दिखा रहे हैं कि इन्हीं चार राज्यों में 2014 के लोकसभा चुनावों में भाजपा को मिले वोट प्रतिशत में और सीट प्रतिशत में (लोकसभा सीटों को यदि विधानसभा सीटों में बाँटकर देखें तो) इस बार गिरावट आ गयी है। इस तसल्ली के साथ ऐसी कथित वाम धारा के लोग आँखों में घूरती सच्चाई से मुँह मोड़कर 'डिनायल मोड' में चले जाते हैं और प्रत्यक्ष परोक्ष रूप में जनता को यह सन्देश देने लगते हैं कि अगले लोकसभा चुनावों में भाजपा पराजित हो जायेगी और इस प्रकार हिन्दुत्ववादी फासीवाद को धूल चटा दी जायेगी।

इस ख़तरनाक मिथ्याभासी तर्क को कई कोणों से देखने और चीरफाड़ करने की ज़रूरत है। पहली बात तो यह कि इतिहास से सबक लेने वाला कोई भी व्यक्ति आगामी लोकसभा चुनावों के बारे में इस कदर आश्वस्त नहीं हो सकता। कांग्रेस की स्थिति में कुछ सुधार भले ही हो, लेकिन चमत्कारी उछाल की कोई सम्भावना नहीं है। जिन क्षेत्रीय पार्टियों का देश के बहुसंख्यक हिस्से पर शासन है, इन्हें कभी भी भाजपा से हाथ मिलाने में कोई परहेज नहीं रहा है। ये पार्टियाँ दरअसल बड़े फार्मरों-बुर्जुआ भूस्वामियों और क्षेत्रीय बुर्जुआ वर्ग की पार्टियाँ हैं, जिन्हें भाजपा के फासीवाद और निरंकुश नवउदारवाद से कोई परहेज नहीं रहा है। इन पार्टियों के सामाजिक आधार में भाजपा लगातार सेंध भी लगाती जा रही है।

बुर्जुआ संसदीय चुनावों में हराकर नहीं, बल्कि व्यापक मेहनतकश जन समुदाय को लामबन्द करके सड़कों पर आर-पार की लड़ाई में ही फासीवाद को निर्णायक शिकस्त दी जा सकती है। फासीवाद को निर्णायक शिकस्त देने का मतलब एक ही हो सकता है और वह है उसे नेस्तनाबूद कर देना।

इससे भी बुनियादी बात यह है कि **हिन्दुत्ववादी फासीवाद के खतरे को चुनावी हार-जीत के आधार पर कत्तई नहीं आँका जा सकता। यदि एक लम्बे दौर की आम प्रवृत्ति को देखा जाये तो भाजपा के वोट प्रतिशत में होने वाली वृद्धि का ग्राफ़ यह दर्शाता है कि भारत में फासीवाद का सामाजिक आधार लगातार विस्तारित हो रहा है और मजबूत हो रहा है।** 1995 से 2016 के बीच असम में भाजपा का वोट प्रतिशत 10.4 प्रतिशत से बढ़कर 29.5 प्रतिशत, बंगाल में 6.6 प्रतिशत से बढ़कर 10.2 प्रतिशत और केरल में 5.4 प्रतिशत से बढ़कर 10.5 प्रतिशत हो गया। उपरोक्त आँकड़ों से स्थिति साफ़ हो जाती है।

किसी भी बुर्जुआ संसदीय प्रणाली के अन्ततर्गत चुनाव जीतकर यदि फासिस्ट सत्ता में आते हैं तो इसका मतलब यह कत्तई नहीं होता कि बहुसंख्यक जनता उसके साथ है, लेकिन इतना तो ज़ाहिर है कि चुनावी जीत भी बताती है कि फासिस्ट उभार उठान पर है और समाज में इस धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का आधार विस्तारित हो रहा है। अत: इस तथ्य से आँखें कत्तई नहीं मूँदी जा सकती कि भाजपा के वोट प्रतिशत में इजाफा फासिस्ट संकट की चुनौती की गम्भीरता को रेखांकित कर रहा है। यदि 2011 और 2016 की भी तुलना करें तो असम में भाजपा के वोट प्रतिशत में 11.5 प्रतिशत से 29.5 प्रतिशत, केरल में (गठबन्धन के दलों सहित) 6.0 से 14.4 प्रतिशत, पं.बंगाल में 4.1 प्रतिशत से 10.3 प्रतिशत और तमिलनाडु में 2.2 प्रतिशत से 2.8 प्रतिशत का इजाफा हुआ है। 2011 में देश के 6 राज्यों में अकेले और 3 राज्यों में गठबन्धन बनाकर भाजपा सत्ता में आयी थी, कांग्रेस 11 राज्यों में अकेले और 2 में गठबन्धन बनाकर सत्तासीन हुई थी तथा 6 राज्यों में क्षेत्रीय दलों की व एक में वाम दलों की सरकार बनी थी। 2016 में 9 राज्यों में भाजपा अकेले और 4 में गठबन्धन के दलों के साथ सत्ता रूढ़ है, कांग्रेस 6 राज्यों में सिमट गयी है, क्षेत्रीय दलों के कब्जे में 9 राज्य हैं और दो पर संसदीय वाम काबिज है। 2017 में पंजाब, उत्तराखण्ड, उत्तर प्रदेश, मणिपुर में तथा 2018 में हिमाचल, मेघालय, कर्नाटक, और मिजोरम के विधान सभा चुनाव होने हैं। इनमें से कर्नाटक, हिमाचल और उत्तराखण्ड में भाजपा की ही सरकार बनने की अधिक सम्भावना है। पंजाब में आप पार्टी और कांग्रेस के बीच मत विभाजन के बावजूद यदि अकाली-भाजपा गठबन्धन दुबारा सत्ता में नहीं आ पाया, तो भी भाजपा के वोट प्रतिशत में बढ़ोत्तरी की सम्भावना है। असम के बाद भाजपा अब पूर्वोत्तर को लेकर दूरगामी रणनीति पर काम कर रही है, जिसमें विशेषकर हिन्दुत्व की राजनीति के साथ-साथ विभिन्न उपराष्ट्रीयताओं की पहचान राजनीति को हवा देने और उनके आपसी टकरावों का लाभ उठाने के साथ ही कांग्रेस और क्षेत्रीय दलों के स्थानीय क्षत्रपों को साथ मिला लेने की जोड़-तोड़ भी शामिल है।

●

तात्पर्य यह कि, कुल मिलाकर, भाजपा की चुनावी सफलताएँ और आज़ादी के बाद पहली बार सबसे बड़े राष्ट्रीय दल के रूप में उसका उभरकर सामने आना भारतीय राजनीति में संघ परिवार की हिन्दुत्ववादी फासीवादी राजनीति के प्रचण्ड उभार का एक महत्वपूर्ण संकेतक है, लेकिन चुनाव परिणामों के इस विश्लेषण से यह कत्तई नहीं समझा जाना चाहिए कि

संसदीय वाम, कांग्रेस और क्षेत्रीय बुर्जुआ पार्टियाँ यदि तालमेल करके चुनावों में भाजपा को शिकस्त दे दें या 2019 के आम चुनावों में जीतकर यदि कांग्रेस गठबन्धन फिर से केन्द्र में सत्तासीन हो जाये तो हिन्दुत्ववादी फासीवादी लहर को पीछे धकेल दिया जायेगा। **बुर्जुआ संसदीय चुनावों में हराकर नहीं, बल्कि व्यापक मेहनतकश जन समुदाय को लामबन्द करके सड़कों पर आर-पार की लड़ाई में ही फासीवाद को निर्णायक शिकस्त दी जा सकती है। फासीवाद को निर्णायक शिकस्त देने का मतलब एक ही हो सकता है और वह है उसे नेस्तनाबूद कर देना।** भाजपा हिन्दुत्ववाद का मात्र संसदीय मोर्चा है। हिन्दुत्ववाद हर फासीवादी आन्दोलन की तरह एक धुरप्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है। यह मुख्यत: मध्य वर्ग का सामाजिक आन्दोलन है, जिसके साथ उत्पादन प्रक्रिया से कटे हुए विमानवीकृत मज़दूर भी खड़े हैं और जिसे बड़े-छोटे पूँजीपतियों और कुलकों-फार्मरों के बहुलांश का- यानी बुर्जुआ सत्ता के सभी छोटे-बड़े हिस्सेदारों के बहुलांश का समर्थन हासिल है। **इस प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का संघ परिवार का कैडर आधारित सांगठनिक ढाँचा हरावल दस्ता है। इसका कारगर प्रतिरोध एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन ही कर सकता है जिस पर मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति का वर्चस्व एक कैडर आधारित सांगठनिक ढाँचे के माध्यम से स्थापित हो।** इस लड़ाई की प्रकृति का सादृश्य निरूपण यदि सामरिक संघर्ष से करें तो कहा जा सकता है कि यह छापामार युद्ध (गुरिल्ला वारफेयर) या चलायमान युद्ध (मोबाइल वारफेयर) जैसी न होकर दीर्घकालिक स्थितियों के युद्ध (पोजीशनल वारफेयर) जैसी होगी। फासिस्टों ने विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के रूप में समाज में अपनी खन्दकें खोद रखी हैं और बंकर बना रखे हैं। हमें भी अपनी खन्दकें खोदनी होगी और बंकर बनाने होंगे। बेशक यह काम मेहनतकश जन समुदाय के राजनीतिक और आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ होगा और मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति का केन्द्र यदि संगठित हो तो रणकौशल के तौर पर बुर्जुआ संसदीय चुनावों के मैदान में भी फासिस्टों से भिड़ंत की जा सकती है, लेकिन **यह मुगालता पालना आत्मघाती होगा कि चुनावी हार-जीत से फासिस्टों को पीछे धकेला जा सकता है।** मेहनतकश जन समुदाय (शहरों-गाँवों के सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा) के सभी हिस्सों का फासीवाद-विरोधी साझा मोर्चा आज की सर्वोपरि ज़रूरत है। इसके बाद ही निम्न मध्य वर्ग के रैडिकल, सेक्युलर तत्वों- विशेषकर छात्रों-युवाओं की जुझारू आबादी को, मजबूती से साथ लिया जा सकेगा। **बुर्जुआ वर्ग का कोई भी हिस्सा या बुर्जुआ वर्ग की कोई भी पार्टी फासीवाद विरोधी संघर्ष में मेहनतकश जनता का रणनीतिक मित्र नहीं हो सकती। संसदीय वाम जब फासीवाद विरोधी संघर्ष को चुनावी संघर्ष और प्रतीकात्मक प्रतिरोधों तक सीमित कर देता है, जब वह मज़दूर वर्ग की राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक संघर्षों को तिलांजलि देकर उसकी राजनीतिक चेतना को कुन्द करता है, जब वह मुट्ठीभर संगठित कुलीन मज़दूरों तक सिमटकर 95 प्रतिशत अतिशोषित असंगठित सर्वहाराओं को पूँजीवादी निर्बन्ध लूट और बुर्जुआ राजनीतिक वर्चस्व की अधीनस्थता के लिए अरक्षित छोड़ देता है, तो वह एक ऐतिहासिक अपराध और ऐतिहासिक विश्वासघात करता है।**

ग़ौरतलब है कि 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध से ही, भाजपा चाहे सत्ता में रहे या न रहे, हिन्दुत्ववादी फासीवादी लहर थोड़ा आगे-पीछे होते हुए, कभी कुछ तेज तो कभी मद्धम गति से लगातार आगे बढ़ती रही है। आगे भी भारतीय बुर्जुआ समाज में यह लगातार अपनी ज़्यादा से ज़्यादा आक्रामक उपस्थिति तब तक बनाये रखेगी, जबतक क्रान्तिकारी राजनीति संगठित होकर इसका प्रतिरोध नहीं करेगी।

बीसवीं शताब्दी में बुर्जुआ राजनीति में धुर दक्षिणपन्थी और फासिस्ट प्रवृत्तियाँ विशेषकर उन दौरों में मजबूत होकर सिर उठाती थीं जब पूँजीवाद आवर्ती चक्रीय क्रम में आने वाले आर्थिक संकट और मन्दी के दौर से गुजरता था। **1920-30 के दशकों की महामन्दी और महाध्वंस को समझे बिना हिटलर और मुसोलिनी को एक परिघटना के रूप में नहीं समझा जा सकता। उस समय पश्चिम के सभी देशों में फासीवाद एक आन्दोलन के रूप में फैला था। अब विश्व पूँजीवाद 1970 के दशक से ही जिस दीर्घकालिक मन्दी को झेल रहा है, उससे वह वस्तुत: कभी उबर पाया ही नहीं। पूँजीवाद का यह संकट 'पीरियॉडिक' न होकर 'स्ट्रक्चरल' (ढाँचागत) है।** यह एक 'टर्मिलन' व्याधि है जो मृत्यु के साथ ही इसका पिण्ड छोड़ेगा। नवउदारवाद की आर्थिक नीतियों से किसी प्रकार के **'कीन्सियन रिट्रीट'** का स्पेस लगभग न के बराबर बचा है। इन नीतियों को प्रभावी ढंग से कोई निरंकुश सत्ता ही लागू कर सकती है। यही कारण है कि आज बुर्जुआ जनवाद और नग्न निरंकुश सत्ता के बीच की विभाजक रेखाएँ धूमिल होती जा रही हैं और पूरी दुनिया में, पश्चिम से पूरब तक, अधिकांश देशों में फासीवादी आन्दोलन विभिन्न रूपों में सिर उठा रहे हैं और अपने सामाजिक आधारों का विस्तार कर रहे हैं। **भारत में भी संघ परिवार 1925 से निरन्तर काम करता रहा है और समय-समय पर दंगों में तथा मज़दूर आन्दोलन विरोधी सरगर्मियों में अहम भूमिका भी निभाता रहा है, लेकिन नवउदारवाद का दौर**

ही वह काल रहा है जब रथयात्रा-बाबरी मस्जिद ध्वंस, गुजरात-2002 आदि अहम मुकामों से होता हुआ यह इस मुकाम तक आ पहुँचा है कि भाजपा आज सबसे बड़ी बुर्जुआ राष्ट्रीय पार्टी के रूप में केन्द्र में और देश के कई राज्यों में सत्ता सम्हालते हुए निरंकुश दमनकारी तरीके से नवउदारवादी नीतियों को लागू कर रही है और दूसरी ओर उसकी फासिस्ट गुण्डा वाहिनियाँ सड़कों पर उत्पात मचा रही हैं, धार्मिक अल्पसंख्यकों को आतंकित कर रही हैं तथा अन्धराष्ट्रवाद का उन्माद फैला रही हैं।

भाजपा सत्ता में रहे या न रहे, फासीवाद के विरुद्ध लड़ाई की योजनाबद्ध, सांगोपांग, सर्वांगीण तैयारी क्रान्तिकारी एजेण्डे पर हमेशा प्रमुख बनी रहेगी, क्योंकि फासीवाद राजनीतिक परिदृश्य पर अपनी प्रभावी उपस्थिति तबतक बनाये रखेगा, जबतक राज, समाज और उत्पादन का पूँजीवादी ढाँचा बना रहेगा। इसलिए फासीवाद विरोधी संघर्ष को हमें पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष के एक अंग के रूप में ही देखना होगा। इसे अन्य किसी भी रूप में देखना भ्रामक होगा और आत्मघाती भी। ●

बिपिन चन्द्र की पुस्तक पर भगवा हमला : भगतसिंह बनाम क्रान्तिकारी आतंकवाद

(पेज 20 से जारी)

... एक तरफ़ जहाँ संघ तृणमूल स्तर पर अपने प्रचार तथा कार्रवाइयों के ज़रिये जनता को अपने पक्ष में करने में लगा हुआ है, वहीं दूसरी तरफ़ शिक्षा के भगवाकरण के ज़रिये वह पूरे देश में चेतना को कुन्द करके समाज की मेधा को अपने नियंत्रण में करने की कोशिश कर रहा है। यही नहीं वह मिथ्या और झूठ को सामान्य ज्ञान के रूप में स्थापित कर अपने नापाक इरादों की पूर्ति को सुगम बना रहा है। संघ के इन नापाक इरादों को विफल करने के लिए, आज देश की तमाम प्रगतिशील और क्रान्तिकारी ताक़तों का यह दायित्व बनता है कि वे शिक्षा के भगवाकरण की मुहिम का पुरज़ोर विरोध करें और अपनी समझ को लेकर जनता के बीच जाएँ और संघी फ़ासिस्टों के नापाक मंसूबों के ख़िलाफ़ जनान्दोलनों को तेज़ करें। ●

"राष्ट्र की एकता मंचों पर लम्बे-लम्बे भाषण से नहीं होगी। इसके लिए हमें ठोस काम करना होगा। वह ठोस काम यही है कि देश के भीतर धर्म और जाति-भेद ने जितनी दीवारें खड़ी की हैं, उन्हें गिरा देना। हाँ, हिन्दू, मुसलमान, इसाई, या लामज़हब होने से हमारे खान-पान, शादी-ब्याह में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। ज़रूरत पड़ने पर इसके लिए हमें मज़हब से भी लोहा लेने के लिए तैयार रहना चाहिए।"

-महाविद्रोही राहुल संकृत्यायन

राजा ने आदेश दिया

राजा ने आदेश दिया : बोलना बन्द
क्योंकि लोग बोलते हैं तो राजा के विरुद्ध बोलते हैं

राजा ने आदेश दिया : लिखना बन्द
क्योंकि लोग लिखते हैं तो राजा के विरुद्ध लिखते हैं

राजा ने आदेश दिया : चलना बन्द
क्योंकि लोग चलते हैं तो राजा के विरुद्ध चलते हैं

राजा ने आदेश दिया : हँसना बन्द
क्योंकि लोग हँसते हैं तो राजा के विरुद्ध हँसते हैं

राजा ने आदेश दिया : होना बन्द
क्योंकि लोग होते हैं तो राजा के विरुद्ध होते हैं

इस तरह राजा के आदेशों ने लोगों को
उनकी छोटी-छोटी क्रियाओं का महत्त्व बताया

-देवी प्रसाद मिश्र

विरासत

अमर शहीद राम प्रसाद 'बिस्मिल' को याद करते हुए

● इन्द्रजीत

(जन्म : 11 जून, 1897, शहादत : 19 दिसम्बर 1927)

अमर शहीद राम प्रसाद 'बिस्मिल' को कौन नहीं जनता! देश की आज़ादी के आन्दोलन में सशस्त्र विद्रोह की बात करने वाली धारा **एच.आर.ए. (हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन)** के ये प्रमुख नेता थे। ज़िन्दादिल और बहादुर क्रान्तिकारी के साथ बिस्मिल उर्दू ज़बान के बेहतरीन शायर भी थे। हथियारों के लिए धन प्राप्त करने के मकसद से काकोरी नामक जगह पर रेल से अंग्रजी खजाना लूटने में इसी दल का हाथ था। **चन्द्रशेखर 'आज़ाद', अशफ़ाक उल्ला खां, रोशन सिंह, राजेन्द्र नाथ लाहिड़ी आदि आदि बिल्मिल के हमराही थे।** राम प्रसाद बिस्मिल सनातनी हिन्दू होते हुए भी अशफ़ाक उल्ला खां के ज़िगरी यार थे। **बिस्मिल-अशफ़ाक की दोस्ती आज भी हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे और साझे संघर्ष का प्रतीक है।** ज्ञात हो एच.आर.ए. की धारा ही आगे चलकर एच.एस.आर.ए. में विकसित हुई जिससे भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, सुखदेव, भगवती चरण वोहरा, दुर्गावती और राजगुरू आदि जैसे क्रान्तिकारी जुड़े व चन्द्रशेखर 'आज़ाद' इसके कमाण्डर-इन-चीफ़ थे। हमारे इन शहीदों ने एक समता मूलक समाज का सपना देखा था। भरी जवानी में फाँसी का फ़न्दा चूमने वाले इन शहीदों को देश की खातिर कुर्बान हुए लम्बा समय बीत चुका है। अग्रेजी राज भी अब नहीं है लेकिन बेरोजगारी, भुखमरी, ग़रीबी और अमीर-ग़रीब की बढ़ती खाई से हम आज भी आज़िज हैं। चन्द वोटों के वास्ते जाति और धर्म के झगड़ों और दंगों की आग में देश को झोंकने के प्रयास आज भी किये जा रहे हैं। कहने को देश में लोकतंत्र है परन्तु यह धनतंत्र और डण्डातंत्र में तब्दील होकर रह गया है। जिनके पूर्वजों ने अंग्रेजों के सामने सदा पूँछ हिलायी, गोरों को माफ़ीनामे लिख-लिखकर दिये और जाँबाज क्रान्तिकारियों की मुखबिरी की वे ही आज देशभक्ति के प्रमाण-पत्र बाँटने के ठेकेदार बने बैठे हैं! देशी-विदेशी लुटेरे हिन्दुस्तानी आवाम का आज भी खून-पसीना निचोड़कर उसे सिक्कों में ढाल रहे हैं और तमाम सरकारें इन लुटेरों की सरपरस्ती कर रही हैं। आज हमें अपने शहीदों के विचारों को न केवल जानना होगा बल्कि उन्हें जन-जन तक भी पहुँचाना होगा तथा उनपर हमें अमल भी करना होगा। जनसैलाब का फ़िर से एक जलजला खड़ा करना होगा जिससे जनता की छाती पर कायम पूँजी का महल चकनाचूर हो जाये और एक शोषण विहीन समाज का निर्माण हो जिसका सपना हमारे शहीदों ने देखा था। बिस्मिल और उनके साथियों को यही हमारी सच्ची श्रद्धांजली होगी। ●

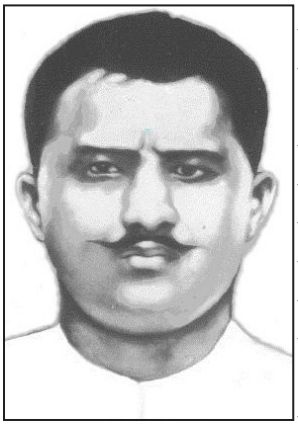

अमर शहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' की याद में पेश हैं दो ग़जलें -

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है ज़ोर कितना बाजुए क़ातिल में है।
ऐ शहीदे-मुल्को-मिल्लत मैं तेरे ऊपर निसार
अब तेरे हिम्मत की चर्चा गैर की महफ़िल में है।
रहबरे राहे मुहब्बत रह न जाना राह में
लज्जते सहराने वर्दी दूरिए मंजिल में है।
वक्त आने दे बता देंगे तुझे ऐ आसमां
हम अभी से क्या बताएँ क्या हमारे दिल में है।
आज फिर मक़तल में क़ातिल कह रहा है बार बार
क्या तमन्ना-ए-शहादत भी किसी के दिल में है।
खींचकर लायी है हमको क़त्ल होने कि उम्मीद
आशिकों का आज जमघट कूचा-ए-क़ातिल में है।
अब न अगले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़
एक मिट जाने की हसरत अब दिले-बिस्मिल में है।
-राम प्रसाद 'बिस्मिल'

उरूजे कामयाबी पर कभी हिन्दोस्ताँ होगा
रिहा सैयाद के हाथों से अपना आशियाँ होगा।
चखायेंगे मज़ा बर्बादिए गुलशन का गुलचीं को
बहार आ जायेगी उस दम जब अपना बाग़बाँ होगा।
ये आये दिन की छेड़ अच्छी नहीं ऐ ख़ंजरे क़ातिल
पता कब फ़ैसला उनके हमारे दरमियाँ होगा।
जुदा मत हो मेरे पहलू से ऐ दर्दे वतन हरगिज़
न जाने बाद मुर्दन मैं कहाँ औ तू कहाँ होगा।
वतन की आबरू का पास देखें कौन करता है
सुना है आज मक़तल में हमारा इम्तिहाँ होगा।
शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले
वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशां होगा।
कभी वह दिन भी आयेगा जब अपना राज देखेंगे
जब अपनी ही ज़मीं होगी जब अपना आसमां होगा।
-जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी'

ढोल की पोल

विजय माल्या तो झाँकी है, असली कहानी अभी बाकी है

●शिशिर गुप्ता

हाल के दिनों में अय्याश पूँजीपति विजय माल्या द्वारा भारतीय बैंकों के **9,000 करोड़ रुपये** लेकर चम्पत हो जाने की ख़बरें सुर्खियों में रहीं। इस प्रकरण से देश के **'चौकीदार नम्बर वन'** होने का दम्भ भरने वाले नरेन्द्र मोदी की खूब किरकिरी हुई और मोदी के प्रचण्ड समर्थक भी इस प्रकरण के आने पर बगलें झाँकते नज़र आये। इसने एनडीए सरकार के पूँजीपतिपरस्त चरित्र को जनता के सामने उघाड़ कर रख दिया। यह प्रकरण भले ही अपने नाटकीय घटनाक्रम और विजय माल्या की अय्याश जीवनशैली की वजह से अधिक चर्चित रहा, लेकिन विजय माल्या कोई अपवाद नहीं है। बैंकों के क़र्जों के ज़रिये देश की जनता को चूना लगाने वाले पूँजीपतियों की फ़ेहरिस्त बहुत लम्बी है। **पूँजीपतियों द्वारा बैंकों से लिए क़र्ज़ रूपी पाप का घड़ा इतनी तेज़ी से भरता जा रहा है कि अब पूँजीवाद के दूरगामी हितों की रक्षा करने वाले अर्थशास्त्री और बुद्धिजीवी भी इन दिनों बैंकों के बढ़ते 'नॉन परफार्मिंग एसेट्स' (एन.पी.ए.) को लेकर चिन्ता ज़ाहिर कर रहे हैं।**

रिज़र्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर रघुराम राजन और उनके जैसे अर्थशास्त्री बैंकों के 'एन.पी.ए.' को काबू में करने के लिए 'डिफ़ाल्टर' पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ कुछ सख्त क़दम उठाने की वकालत कर रहे हैं और भविष्य में ऐसी स्थिति न आये इसके लिए 'बैंकिंग सेक्टर' के नवीनीकरण की बात कर रहे हैं। लेकिन पूँजीपति वर्ग के ये सच्चे सेवक कभी भी इस सच्चाई पर बात नहीं करते कि पूँजीवादी समाज में बैंकों का अस्तित्व ही पूँजी की हितपूर्ति के लिए होता है और यदि उनके एन.पी.ए. न भी बढ़ें तो भी वे अन्ततः पूँजीपति वर्ग की ही सेवा में सन्नद्ध होते हैं। पूँजीवादी समाज में बैंकिंग व्यवस्था के चरित्र के बारे में मार्क्स ने कहा था कि बैंक एक-दो पूँजीपतियों के नहीं समूचे पूँजीपति वर्ग के लिए सार्वभौमिक बही खाते ('यूनिवर्सल बुक कीपिंग') रखने का काम करते हैं। दरअसल राजन जैसे अर्थशास्त्रियों की चिन्ता का सबब यह है कि बैंकों के बढ़ते एन.पी.ए. की वजह से यह बहीखाता गड़बड़ा रहा है।

बैंकों के बढ़ते एन.पी.ए. की कहानी, आँकड़ों की ज़ुबानी

हाल के वर्षों में, विशेषकर सरकारी बैंकों के ग़ैर निष्पादनकारी परिसम्पत्तियों यानी 'नॉन परफॉर्मिंग एसेट्स' संक्षेप में 'एन.पी.ए.', में अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुई है। एन.पी.ए. का तात्पर्य बैंकिंग व वित्त उद्योग में ऐसे ऋण (लोन) से है, जिसका वापस भुगतान संदिग्ध हो। बैंक कई किस्म के ऋण देते हैं जैसे किसानों को दिये जाने वाले लोन, क्रेडिट कार्ड पर दिया जाने वाला लोन, लघु उद्योगों के लिए लोन, घर या कार खरीदने के लिए लोन, बड़े उद्योगपतियों को दिये जाने वाले लोन इत्यादि। **'फर्स्ट पोस्ट' ऑनलाइन पत्रिका में प्रकाशित ख़बर के अनुसार भारतीय बैंकों (सरकारी और प्राइवेट) का कुल एन.पी.ए. सितम्बर 2008 में रु. 53,917 करोड़ से बढ़कर सितम्बर 2015 तक आते-आते रु. 3,41,641 करोड़ तक पहुँच चुका है जो उनके द्वारा दिए गये कुल ऋण का 5.08 प्रतिशत है। इसमें उच्चतम एन.पी.ए. प्रतिशत वाले शुरू के 10 बैंकों में 2008 में मुख्यतः प्राइवेट बैंक थे। 2015 तक आते-आते शीर्ष के बैंकों में मुख्यतः सरकारी बैंक आ गये।**

सन 2008 के वित्तीय संकट से पैदा हुई विश्वव्यापी मन्दी से पहले भारत ने विश्व अर्थव्यवस्था में अभूतपूर्व वृद्धि दर्ज की थी। पर तब से अब तक परिदृश्य काफ़ी कुछ बदल चुका है। भारत में उद्योग और कृषि क्षेत्र में मन्दी का असर दिखने लग गया है। और इसी के साथ ही बैंकिंग सेक्टर में ख़राब लोन के जबरदस्त संचय की समस्या भी उभर कर आयी है। रिजर्व बैंक के दिशानिर्देशों के अनुसार तकनीकी तौर पर अथवा चालाकी से बट्टे खाते ('सस्पेंस अकाउंट') में डाले जाने वाली रकम गैर-निष्पादित ऋण है जो बैंक की शाखाओं के बहीखाते में बकाये के रूप में होती है लेकिन मुख्यालय स्तर पर उसे बट्टे खाते (पूरा या आंशिक तौर पर) में डाल दिया जाता है। बट्टे खाते में डालने के बाद विभिन्न तरीकों से वसूली की प्रक्रिया जारी रहती है जैसे कि एन.पी.ए. को किसी 'एसेट रिकंस्ट्रक्शन कम्पनी' को बेच देना, लोन को 'इक्विटी' में बदल देना आदि। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने बीते तीन साल के दौरान **1,14,000 करोड़**

रुपये की रकम बट्टे खाते में डाली है। इस वित्तीय वर्ष में भी बैंक **52,227 करोड़ रुपये** की रकम के बारे में यही सोच रहे हैं। इससे बैंकों के मुनाफ़े में भारी गिरावट आयी है, जिससे सरकार द्वारा इन बैंकों के पुनर्पूंजीकरण की माँग ज़ोर पकड़ती जा रही है। और इस वर्ष के केन्द्रीय बजट में इसी उद्देश्य से **25,000 करोड़ रुपये** का प्रावधान भी किया गया है।

एन.पी.ए. में इतनी बढ़ोत्तरी कैसे हुई?

सामान्यत: बैंकों के इस दिवालियेपन की तरफ़ बढ़ने के पीछे 'विलफुल डिफ़ॉल्टर' (अच्छे कारोबार के बावजूद निर्धारित समय में जानबूझकर लोन न चुकाने वाले), बैंकों द्वारा अपनी बैलेंस शीट बढ़िया दिखाने के लिए लगातार ख़राब लोन को छुपाया जाना, काँग्रेस सरकार की ख़राब आर्थिक नीतियों इत्यादि को ज़िम्मेदार ठहराया जाता है मगर इतने से ही इसकी व्याख्या पूरी नहीं हो पाती बल्कि ये सब तो द्वितीयक वजहें हैं। असल में भूमण्डलीकरण के इस दौर में किसी भी वैश्विक परिघटना से बहुत देर तक अछूता रह पाना किसी भी देश के लिए अब सम्भव नहीं है। यही वजह है कि भारत और चीन जैसे देश जो 2008 की मन्दी से शुरू में अछूते जान पड़ रहे थे, अब अन्ततः अवश्यम्भावी रूप से इसकी गिरफ़्त में आने लगे हैं और कहा जाय तो आ ही चुके हैं।

भारत में पिछले दशक में ही क्रेडिट के आधार पर अर्थव्यवस्था का पहिया खींचने की कोशिशें शुरू हो चुकी थीं। वाणिज्यिक बैंकों में बकाये और सकल घरेलू उत्पाद ('जी.डी.पी.') का अनुपात 1989-90 से शुरू हुए दशक में **22%** पर रहने के बाद 1999-2000 में बढ़ना शुरू हुआ जो 2005-06 तक **44.4%** और 2014-15 तक **60%** तक पहुँच चुका था। इसका स्पष्ट मतलब है कि माँग और वृद्धि बरकरार रखने के लिए वित्तीय व्यवस्था द्वारा प्रदान किये जाने वाले लोन का व्यापक पैमाने पर प्रयोग किया जा रहा था जो अब संकट में फँस चुका है क्योंकि विश्व बाज़ार में लगातार बनी हुई मन्दी की वजह से माँग काफ़ी कम हो चुकी है। माँग कम होने से पूँजीपति बैंकों से लिया गया भारी कर्ज चुका पाने में अक्षम साबित हो रहे हैं। इस तरह हम देखते हैं कि 'क्रेडिट' ('लोन') के दम पर लगातार बैंकों में विदेशी मुद्रा के प्रवाह को बरकरार रखने (यदि बैंक लोन न दें तो उनमें कोई निवेश नहीं करेगा), नकली माँग पैदा करने और विश्व अर्थव्यवस्था के पटरी पर आ जाने की उम्मीद में जो जुआ भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने खेला था वो फ़िलहाल डूबता हुआ नज़र आ रहा है।

भारत में इस 'क्रेडिट बूम' के पीछे की मुख्य वजह 2003 के बाद से विदेशों से भारी मात्रा में चलनिधि ('लिक्विडिटी') का आना है। शुरुआत में तो भारी राजकोषीय घाटे में चलने वाली सरकार के द्वारा ही काफ़ी बड़ी मात्रा में लोन लिया जाता था। पर चूँकि विदेशी निवेशक राजकोषीय घाटे को लेकर सशंकित होते हैं जिससे निवेश प्रभावित हो सकता है इसलिए केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा नियम बनाकर सरकार द्वारा लिये जाने वाले लोन की सीमा तय कर दी गयी। जिसके बाद बैंक प्राइवेट सेक्टर की तरफ़ मुड़े और खुदरा क्षेत्र ('रिटेल सैक्टर') यानि मकान लोन, कार लोन इत्यादि दिये जाने की भारी मात्रा में शुरुआत हुई। 1996 में खुदरा क्षेत्र में दिया जाने वाला लोन बैंकों द्वारा दिये जाने वाले कुल लोन का **9%** था जो 2010 तक बढ़ कर लगभग **25%** हो चुका था। जिसके कारण भारत में अमेरिका के 'सबप्राइम मॉर्टगेज' जैसा संकट पैदा होने की सम्भावना भी व्यक्त की गयी। मगर 2008 के बाद एक छोटी सी अवधि को छोड़ दें तो निवेश लगातार होता रहा और जिससे लोन देने का दबाव बना रहा।

तब बैंकों ने अवरचनागत ('इन्फ्रास्ट्रक्चर') क्षेत्र में पैसा लगाना शुरू किया। अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों द्वारा इस क्षेत्र में दिया जाने वाला लोन मार्च-2000 में **4%** से बढ़कर मार्च-2004 में **16.4%** और मार्च-2011 में **33.5%** तक पहुँच चुका था। जबकि सामान्य परिस्थितियों में बैंक अवरचनागत क्षेत्र में इतना लोन नहीं देते हैं क्योंकि इस क्षेत्र में परिसम्पत्ति अचल होती है और 'प्रोजेक्ट' पूरा होने में काफ़ी वक़्त लगता है। कोई आश्चर्य नहीं कि प्राइवेट बैंकों ने ये ख़तरा ज़्यादा नहीं उठाया और सम्भवत: सरकार के प्रोत्साहन से 'पब्लिक सेक्टर' बैंकों ने ही इस क्षेत्र में ज़्यादा निवेश किया। पर क्योंकि प्रोजेक्ट पूरा होने में देरी की वजह से इस क्षेत्र में 'प्रमोटर' शुरू में 'इक्विटी' नहीं जुटा पाते और उन्हें भारी मात्रा में लोन पर निर्भर रहना पड़ता है और समय ज़्यादा लगने की वजह से कुल ब्याज की मात्रा काफ़ी ज़्यादा हो जाती है, इसलिए अन्ततः बैंकों द्वारा दिये गये लोन की वापसी खतरे में पड़ जाती है।

कौन हैं डिफ़ॉल्टर?

'कैचन्यूज़' में प्रकाशित ख़बर के अनुसार भारत के रिलायंस, वेदान्ता, अदानी, जेपी जैसे सबसे बड़े औद्योगिक घराने 'लोन डिफ़ॉल्टरों' में सम्भावित रूप से शामिल हैं। मात्र राज्य नियंत्रित बैंकों का ही कुल 'एन.पी.ए.' **3.04 लाख करोड़ रुपये** है। ये रक़म कितनी बड़ी है इसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि ये भारत के कुल शिक्षा बजट का चार गुना है। ऐसा माना जा रहा है कि इसमें से एक बहुत बड़ी रकम कभी भी वापस बैंकों के पास नहीं जायेगी। स्वाभाविक ही सबसे बड़े लोन बड़े-बड़े उद्योग घरानों द्वारा लिये जाते हैं। **हालाँकि रिज़र्व बैंक सहित कोई भी बैंक इन बड़े डिफ़ॉल्टरों का नाम तो सार्वजनिक नहीं करता मगर इन कम्पनियों की बैलेंस शीट से काफ़ी कुछ स्पष्ट हो जाता है। मार्च 2015 में अकेले रिलायंस समूह के ऊपर**

कुल कर्जा रुपये 1.25 लाख करोड़ का था, कमोबेश यही हालात देश के बाकी अन्य उद्योग घरानों के भी हैं। स्पष्ट है कि इस कुल कर्जे का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा बैंकों से लिए लोन से भी आता है। स्वाभाविक ही ये उद्योग घराने ही सबसे बड़े डिफ़ॉल्टर भी होते हैं।

पूँजीपतियों से यारी है, जनता से गद्दारी है!

वैसे तो कई बार किसान भी लोन चुकता नहीं कर पाते, और पुलिस की छापेमारी व बैंक वालों के चक्कर लगाने से उनमें से कई मजबूर होकर आत्महत्या तक कर लेते हैं। पर बड़े उद्योगपति ऐसा करके भी अपनी अय्याशी भरी ज़िन्दगी आराम से जीते हैं। विजय माल्या का उदाहरण हमारे सामने है।

गौरतलब है कि प्राइवेट बैंकों के मुक़ाबले सरकारी बैंकों के दिवालिया होने की स्थिति में राज्य द्वारा मदद करके उन्हें बचा लिया जाना ज़्यादा आसान है। **सरकारी बैंकों के मामले में संशोधनवादी वामपन्थी उतना हो-हल्ला नहीं मचाते हैं क्योंकि इनके लिए राष्ट्रीयकरण ही समाजवाद होता है। राज्य द्वारा अगर बैंकों को पैसा दिया जाता है तो वो जनता का ही पैसा होता है, जिसे जनता की खून-पसीने से कमायी गयी रकम पर भाँति- भाँति के टैक्स लगाकर निचोड़ा जाता है। पर बैंक यदि राज्य द्वारा ही संचालित हों तो राष्ट्रीय गौरव की आड़ में जनता को धोखा देना आसान होता है जबकि इसका सीधा सा मतलब होता है बड़े औद्योगिक घरानों को हज़ारों करोड़ रुपये की खैरात बाँटना। वैसे इसमें कोई आश्चर्य वाली बात भी नहीं है। पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी पूँजीपतियों के हितों के लिए ही तो काम करेगी!**

एक तरफ़ जहाँ हर साल बजट में उद्योगपतियों को टैक्स पर विभिन्न तरीकों से भारी छूट दी जाती है, निवेश प्रक्रिया को आसान करने के नाम पर नियमों-कानूनों को आसान कर प्राकृतिक संसाधनों के नंगे दोहन की आज़ादी दी जाती है और लाखों करोड़ों के कर्जे माफ़ किये जाते हैं तो दूसरी ओर किसी आम आदमी के कर्जे को वापस लेने के लिए यही बैंक एड़ी-चोटी का जोर लगा देते हैं। पूँजीपतियों के साथ इनका याराना इतना गहरा है कि कोई भी बैंक बड़े डिफ़ॉल्टरों का नाम तक बताने को तैयार नहीं है। जबकि भारतीय स्टेट बैंक ने अगस्त 2011 में मात्र रुपये 80,000 के लोन में से रुपये 52,264 नहीं चुकता कर पाने के कारण एक महिला को जलील करने के लिए उसकी फ़ोटो सहित अख़बार में विज्ञापन दिया था और वह भी तब जबकि उस महिला का नाम अभी तक केवल 'डिफ़ॉल्टरों' की सूची में था न कि 'विलफुल डिफ़ॉल्टर' रूप में। जबकि एक अन्य सरकारी बैंक 'कारपोरेशन बैंक' ने तो एक कदम आगे जाते हुए सार्वजनिक रूप से 'डिफ़ॉल्टरों' की तस्वीरों की होर्डिंग लगवाई थी, जिसमें 2008 की वैश्विक मन्दी की मार खाए कुछ छोटे व्यापारी भी थे।

जनता के लिए एन.पी.ए. के मायने क्या हैं?

आने वाले दिनों में मौजूदा बैंकिंग संकट पहले से ही पूँजीवादी जुए तले कराह रही आम मेहनतकश आबादी के कन्धों के बोझ को और भी बढ़ाने वाला है, भले ही इस संकट को इस मुकाम तक पहुँचाने में उसकी कोई भूमिका न रही हो। जिन परजीवी पूँजीपतियों की वजह से यह संकट इस मुकाम तक पहुँचा है उनमें से अधिकांश की नरेन्द्र मोदी से क़रीबी है। नरेन्द्र मोदी नीत एनडीए सरकार को पूँजीपति वर्ग ने राज्यसत्ता की कमान इसीलिए सौंपी है ताकि उनको दोषमुक्त किया जा सके। इस सरकार से यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि वह इन पूँजीपतियों पर नकेल कसेगी। ऐसे में भाड़े के पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने इस संकट का बोझ जनता के कन्धों पर डालने की नयी-नयी तिकड़में निकालना पहले से ही शुरू कर दिया है। 'एसेट रिकंस्ट्रक्शन कम्पनी' और कर्जों के नवीनीकरण ('रीस्ट्रक्चरिंग') की जो कवायदें चल रही हैं वह दरअसल पूँजीपतियों को अपराध के स्थान से निकल भागने का मौका देने या बड़े अपराध की मामूली 'पेनाल्टी' देकर मामले को रफ़ा-दफ़ा करने के समान है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, बैंकों के पुनः पूँजीकरण की शुरुआत पहले ही हो चुकी है। या यूँ कहें कि इस संकट का बोझ जनता के कन्धों पर लादने की शुरुआत भी हो चुकी है।

असल में कोई भी पूँजीवादी राज्यसत्ता यह नहीं चाहेगी कि उसके यहाँ के बैंक तबाह हों, क्योंकि ऐसा होने पर पूरे पूँजीवादी ढाँचे के लिए खतरे की घण्टी होगी। पर राज्यसत्ता कितना भी हाथ-पाँव मार ले; वह उत्पादन की प्रक्रिया के समाजीकरण और उसके मुनाफ़े के महज़ चन्द लोगों तक सीमित होने के मूलभूत अन्तर्विरोध को कभी दूर नहीं कर सकती और इसी मूलभूत अन्तर्विरोध की वजह से समय-समय पर संकट उभरते रहते हैं। पूँजीवादी राज्यसत्ता चाह कर भी ऐसी परिस्थितियों पर लगाम नहीं लगा सकती और इसलिए जब तक पूँजीवादी व्यवस्था बनी हुई है और इसे नष्ट करके नया विकल्प खड़ा नहीं किया जाता तब तक जनता को भाँति- भाँति के संकटों के ज़रिये इसकी चोट खानी ही पड़ेगी। ●

"पागलपन : एक ही चीज़ को बार-बार करना और हमेशा अलग परिणाम की आशा करना।"

-अलबर्ट आइन्स्टीन

सामयिकी

फासीवादी हमले के विरुद्ध 'जेएनयू' में चले आन्दोलन से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण सवाल

● लता

9 फरवरी के बाद जेएनयू परिसर में एक विचित्र अनिश्चितता का माहौल पसरा था, पुलिस गेट पर खड़ी थी, अन्दर तूफ़ान के पहले की शान्ति व्याप्त थी, चारों ओर पुलिस के छापों और तलाशी की ख़बर उड़ रही थी। परिसर में भय, भ्रम और अफवाहों का कोहरा फैल गया और सभी के दिमाग में एक ही बात थी, अब आगे क्या होने वाला है? **जेएनयू के छात्र-छात्राएँ काफ्का के उपन्यास ट्रायल के पात्र श्रीमान के. की तरह बदहवासी से पूछ रहे थे, आखिर यह सब किसलिये, किस अपराध के लिए यह भयंकर उन्माद?** अफजल गुरु पर 9 फ़रवरी का कार्यक्रम पहली बार नहीं हुआ था। यह तीसरी बार आयोजित किया जा रहा था। लेकिन इसमें ऐसा क्या हो गया जो कि चन्द घण्टों के भीतर यह राष्ट्रीय स्तर का समाचार बन गया और बिके हुए मीडिया चैनलों ने जेएनयू को राष्ट्रद्रोही घोषित कर दिया।

जेएनयू पर होने वाला संघ का हमला शिक्षण संस्थानों पर चल रहे हमले और उनकी भगवाकरण की प्रक्रिया की ही अगली कड़ी थी जो आईआईटी मद्रास, एफटीआईआई से होते हुए जेएनयू और अब बीएचयू तथा पटना आर्ट कॉलेज के रूप में आगे ही बढ़ता जा रहा है। तार्किकता, विज्ञान, इतिहास, स्वतंत्र चिन्तन और जनवादी स्पेस संघ के फासीवादी विचारों के लिए प्राणघातक हैं। इन विचारों पर अंकुश लगाना संघ के लिए ज़रूरी है ताकि छात्र इस भ्रष्ट, अमानवीय, घिनौनी, पतित व्यवस्था के कलपुर्जे बन कर ही रहें और सोच, समझकर प्रश्न न उठा सकें। **स्पेन के प्रसिद्ध लेखक मिगेल दे उनामुनो ने कहा था- "अन्य किसी भी चीज़ की तुलना में फासीवादी ज्ञान से सबसे ज्यादा नफ़रत करते हैं।"** भाजपा के सत्तासीन होने के बाद संघ की योजना के तहत एक-एक कर सभी शैक्षणिक संस्थानों और विद्यालय के पाठ्यक्रम पर हमले की शुरुआत हो गयी। इसके अलावा **सार्वजनिक वित्तपोषित विश्वविद्यालयों की साख ख़त्म किये बिना निजी विश्विद्यालयों का बाज़ार चमक ही नहीं सकता।**

जेएनयू लम्बे समय से आरएसएस के 'रडार' पर था जिसे पिछले लम्बे समय से पांचजन्य और ऑर्गेनाइज़र में छप रहे लेखों को देख कर समझा जा सकता है। 9 फरवरी को होने वाला कार्यक्रम कोई नया नहीं था, यह पिछले तीन साल से होता आया है और यह किसी भी रूप में कानून का उल्लंघन नहीं करता। उच्चतम न्यायालय के निर्णय या सरकार की नीतियों की आलोचना अभिव्यक्ति की स्वततंत्रता के अधिकार के दायरे में आती है। दूसरी बात महज नारे लगाने या नहीं लगाने से राष्ट्रद्रोह साबित नहीं हो जाता। लेकिन फिर भी जैसा कि इस कार्यक्रम के आयोजकों ने और विभिन्न प्रगतिशील और वाम संगठनों और समूहों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस तरह के किसी भी नारे में वे शामिल नहीं थे। लेकिन संघ परिवार लम्बे समय से एक मौके की तलाश में था और अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के सौरभ शर्मा ने थाली में परोस कर वह मौका अपने संघी महापिताओं को दे ही दिया।

इस भगवा हमले के ख़िलाफ़ जेएनयू जम कर लड़ा। जेएनयू के प्रोफेसर, छात्र और छात्राओं ने इस हमले का न केवल विरोध किया बल्कि जब तक गिरफ्तार छात्र कन्हैया, अनिर्बान और उमर जेल से छूट नहीं गये और उन्हें जमानत नहीं मिल गयी तब तक प्रतिरोध के विभिन्न रचनात्मक माध्यमों से अपनी एकजुटता और विरोध का प्रदर्शन करते रहे। दो महीने तक जेएनयू में 'नेशनलिज़्म' और 'आज़ादी' पर 'लेक्चर श्रंखला' आयोजित कर, देश-विदेश से बुद्धिजीवियों और कलाकारों को आमंत्रित कर एक लम्बा प्रतिरोध चला। इस लम्बे प्रतिरोध के बावजूद कुलपति निहायत बेशर्मी के साथ

संघ के फरमान सुनाते रहे। जेएनयू के कुलपति, जगदीश कुमार ने इस पूरे मामले की छान-बीन के लिए एक 'हाई लेवल इन्वाएयरी कमिटी' (आगे 'एचएलईसी') का गठन किया। जेएनयू शिक्षक संघ ('जेएनयूटीए') और जेएनयू छात्र संघ ('जेएनयूएसयू') ने इस कमेटी का विरोध किया और इसे जनवादी बनाने की माँग की। इस कमेटी में औपचारिक तौर पर एक-दो सदस्यों की संख्या बढ़ाने के अलावा 'जेएनयूएसयू' और 'जेएनयूटीए' की कोई भी बात नहीं मानी गयी। किसी भी छात्र को इस कमेटी की छान-बीन का हिस्सा नहीं बनया गया और सारे नियम-कानून दरकिनार करते हुए कमेटी ने एकतरफा छान-बीन के आधार पर रिपोर्ट तैयार कर कुलपति के सुपुर्द कर दी। अभी दो छात्र जेल में ही थे तब तक कमेटी की सिफारिशें आ गयी थीं। इन सिफारिशों पर निर्णय कुलपति को लेना था। कुलपति ने सिफारिशों के आने के बावजूद निर्णय नहीं लिया और निर्णय को "सबसे अनुकूल समय" के लिए स्थगित कर दिया। वह समय था विश्वविद्यालय में परीक्षाओं का समय। जिस दिन परीक्षाएँ आरम्भ हुई उसी दिन रिपोर्ट पर निर्णय भी ले लिया गया। कुलपति की योजना यह थी कि छात्र-छात्राएँ अपने इम्तिहान में व्यस्त होंगे तो प्रतिरोध अपने आप कमजोर हो जायेगा। लेकिन पहले की तरह ही इस बार भी छात्र-छात्राओं और अध्यापकों ने एकता और एकजुटता का प्रदर्शन किया।

रिपोर्ट पर निर्णय के बाद जेएनयू के सभी संगठनों की बैठक ('मीटिंग') बुलायी गयी जिसमें राजनीतिक और कानूनी संघर्षों के पहलुओं पर बात हुई। इस बैठक में यह भी बात हुई कि यदि छात्र कानूनी संघर्ष में उतरते हैं तो राजनीतिक संघर्ष या तो लड़ ही नहीं पायेंगे और यदि राजनीतिक संघर्ष जारी भी रहा तो अंतत: बात आ कर यहीं रुकेगी कि चूँकि मामला न्यायालय के अधीन है इसलिए इस पर निर्णय नहीं हो सकता। बैठक में प्रशासनिक भवन के घेराव से लेकर कमरे-कमरे जा कर राजनीतिक प्रचार, विरोध प्रदर्शनों की बात हुई और अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर भी चर्चा हुई। इस बैठक के बाद एक और बैठक हुई जिसमें कुछ संगठनों ने हिस्सा लिया और बेहद गैरजनवादी तरीके से अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर एक सहमति बना ली गयी जिसकी घोषणा अगले दिन प्रेस कॉन्फ्रेन्स में कर दी गयी। अपनी असहमतियों (रिजर्वेशन) के बावजूद अन्य सभी संगठनों ने इसमें हिस्सा लिया। बापसा (बिरसा अम्बेडकर फुले स्टूडेन्ट ऑर्गेनाइजेशन) ने पहले की तरह ही इस बार भी अपने-आप को आन्दोलन से दूर रखा और अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल में हिस्सा लेने से इंकार कर दिया। बेहतर यह होता कि संघर्ष को चरणों में आगे बढ़ाया जाता, पहले घेराव और प्रदर्शनों के माध्यम से छात्र आबादी को एक बार फिर लामबन्द किया जाता; प्रतिरोध किया जाता और फिर क्रमिक भूख हड़ताल से शुरुआत करते हुए अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल की ओर बढ़ा जाता। परन्तु कुछ संगठन अवसरवादी तरीके से इस संघर्ष को अपना नाम चमकाने के लिए ही इस्तेमाल करना चाहते थे।

बहरहाल, 'जेएनयूएसयू' द्वारा घोषित भूख हड़ताल के समानान्तर संघी ड्रामेबाजों ने भी अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल की घोषणा की जिसका नेता, सौरभ शर्मा, पाँच दिनों बाद अस्पताल में फूड प्वाइज़निंग की वजह से भर्ती कराया गया! सौरभ शर्मा का अस्पताल जाना इस पूरे प्रकरण का बेहद प्रहसनात्मक अंश रहा।

10 मई को अकादमिक काउन्सिल की मीटिंग होने वाली थी और उस दिन अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल अपने तेरहवें दिन में प्रवेश कर चुकी थी। इस आन्दोलन का दबाव पूरी तरह कुलपति और प्रशासन पर बन रहा था। कुलपति मीटिंग को छोड़ कर भागने को मजबूर हो गया। लेकिन तभी एक खबर आयी कि 'एचएलईसी' पर कोर्ट का स्टे हो गया है। फिर पता चला कि मात्र उमर और अनिर्बान के जुर्माने पर स्टे लगा है। कुछ ही पल में छात्रों को ऐसा लगा मानों किसी ने आन्दोलन से सारी ऊर्जा निकाल दी हो और वह हवा निकले गुब्बारे की तरह उड़ता हुआ ज़मीन पर आ गिरा हो। उसी समय एक छात्र विरेन्द्र, बापसा और युनाइटेड ओबीसी फोरम ने यह बात कहनी शुरू की कि 'एचएलईसी' का मुद्दा जानबूझ कर उछाला गया जबकि अन्य मुद्दों को योजना के तहत दबाया गया। अन्य मुद्दों में 'ओबीसी' रिजर्वेशन' /'रिलैक्सेशन', 'डिप्रवेशन पॉइण्ट' शामिल थे। यह आरोप सिरे से ग़लत है। अन्य मुद्दों पर भी निश्चित ही बात होती लेकिन जब पूरे जेएनयू परिसर के जनवादी 'स्पेस' पर हमले की बात थी और छात्र-छात्राओं के बहाने यहाँ के वैचारिक माहौल पर हमले की बात थी तो प्राथमिकता के लिहाज़ से तो जनवादी 'स्पेस' पर हमले के प्रतिरोध का मुद्दा ही छात्रों के लिए सबसे ऊपर होना चाहिए। यह दीगर बात है कि उमर और अनिर्बान ने उन छात्र-छात्राओं को बताये बिना कानून का दरवाज़ा खटखटाया। जब सभी लोग उनके साथ पूरी एकजुटता के साथ खड़े थे तो इतना उतावलापन क्यों था? क्या उन्हें आन्दोलन को जनता के बीच नहीं ले जाना चाहिए था? लेकिन वे गये तो न्यायालय और गैरजनवादी निर्णय प्रक्रिया से व साजिशाना तरीके से, पीछे के दरवाजे से। यह एक निहायत कायराना और मौकापरस्त क़दम था। क़ानूनी लड़ाई की सीमा होती है। स्वयं इस पूरे प्रकरण को देख कर समझा जा सकता है और साथ ही देश में पिछले दो सालों में जिस तरह कानून और न्याय व्यवस्था की खुले तौर पर धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं उसके बावजूद कानून का दरवाज़ा खटखटाना कायरता थी और वह भी तब जब आपके साथ लगभग सारा विश्वविद्यालय खड़ा था, और तो और जेएनयू के पुराने छात्र, अभिभावक, आम जनता सब आपके साथ थे। यह उन लोगों के साथ और

इस पूरे संघर्ष के साथ एक धोखा था।

इस आन्दोलन के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं के विश्लेषण और सकारात्मक आलोचना की बेहद आवश्ययकता है क्योंकि शैक्षणिक संस्थानों पर किया जाने वाला हमला रुकने वाला नहीं है यह और तीव्र होगा। यह सरकार अपनी आर्थिक नीतियों की विफलता, जनता के साथ किये गये वायदों की उड़ती धज्जियाँ, बिहार, बंगाल, केरल के चुनावों में मिली विफलता और नये-नये भ्रष्टाचारों से घिरती हुई अपनी तिलमिलाहट में बौखला कर ऐसे हमले और बढ़ायेगी। स्थिति की गम्भीरता को इस बात से भी समझा जा सकता है कि तमाम आन्दोलनों और देशव्यापी प्रतिरोधों के बावजूद अप्पा राव को हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय का दोबारा कुलपति नियुक्त कर दिया गया। इसके प्रतिरोध में उतरे छात्रों को भयंकर रूप से पीटा गया, एचसीयू को खुले जेल में रूपान्तारित कर दिया गया, बिजली-पानी, भोजन आदि की सुविधाएँ छीन ली गयीं और पुलिस तथा 'पैरामिलिट्री फोर्स' की परिसर में तैनाती कर दी गयी।

स्थिति की गम्भीरता और फासीवाद की मजबूत होती पकड़ आदि कारण हमें जेएनयू के आन्दोलन से जुड़े कई सवालों पर सोचने को मजबूर कर रहे हैं। जेएनयू के संघर्ष से भी फासीवाद से लड़ने के लिए कोई कारगर योजना साकार होती नहीं दिखती है। निश्चित ही फासीवाद से लड़ाई अभी भी जारी है और यह लम्बी चलने वाली है इसलिए इस आन्दोलन ने जो रास्ते दिखाये हैं उनकी समीक्षा आवश्यक है। हम नुक्तेवर आन्दोलन के कुछ पहलुओं पर आलोचनात्मक नज़र डालेंगे।

भारतीय संविधान- 'द होली कॉव': कन्हैया का संविधान प्रेम!

'जेएनयूएसयू' अध्यक्ष कन्हैया की जेल से जमानत पर रिहाई के बाद पूरे आन्दोलन को एक नयी ऊर्जा मिली थी। 'फ्रीडम स्वायर' से दिये अपने भाषण में उसने मोदी, मँहगाई, संघ और निजीकरण पर तीखी बात रखी लेकिन साथ ही उसने बार-बार यह भी दोहराया कि उसे भारतीय संविधान और कानूनी तथा न्यायिक प्रक्रिया पर पूरा भरोसा है और वह संघियों से कहीं ज्यादा राष्ट्रवादी है। उस भाषण व उसके बाद कन्हैया द्वारा दिये गये साक्षात्कारों में राष्ट्रवाद और भारतीय संविधान की उन्मादी प्रशंसा अपने आप को राष्ट्रावादी और संवैधानिक सिद्ध करने की आक्रामक घोषणा किसी उदारवादी को भी शर्मशार कर दे। स्वयं जो संविधान औपचारिक रूप से ही सही आलोचना का अधिकार देता है उसे पवित्र बना देना दर्शाता है कि भारत का संसदीय वाम फासीवाद के सामने घुटने टेक चुका है। वह संविधान जो मौलिक अधिकारों की बात करते हुए स्वयं राज्य को ऐसे अधिकार देता है जिसके द्वारा इन अधिकारों को छीना जा सके; इंसानी ज़िन्दगी जीने के लिये ज़रूरी बुनियादी अधिकारों की ज़रूरतों को पूरा करने की गारण्टी नहीं देता; जो राज्य को 'प्रिवेंण्टिव डिटेन्सन' के प्रावधान के तहत ऐसे कानून बनाने के अधिकार देता है, जो जनता पर जुल्म ढाने और जीवन तक के अधिकार छीन लेने का काम करें; ऐसे संविधान की प्रशंसा राजनीतिक तौर पर निहायत शर्मनाक थी। क्या हमें यह पता नहीं कि इसी संविधान के तहत प्रदत्त अधिकारों का इस्तेमाल करते हुए इन्दिरा काल में इमरजेंसी लगायी गयी थी। यह भला कब से होने लगा कि एक कम्युनिस्ट बुर्जुआ वैधानिकता और न्याय व्यवस्था का फेटिश अपनाने लगे? यह वही पुराना संशोधनवादी तर्क है जो एज़ाज अहमद को राष्ट्रवाद की अनऐतिहासिक और गैरमार्क्सवादी समझदारी तथा कन्हैया को राष्ट्रवाद और संविधान के उन्मादी गुणगान की ओर ले जाता है।

गैरसंवैधानिक गतिविधियों में संलग्न होना अलग बात होती है लेकिन सैद्धान्तिक ज़मीन से संविधान की आलोचना गैरसंवैधानिक नहीं है। निश्चित ही मात्र 11.5 फीसदी सम्भ्रान्त वयस्कों द्वारा चुने संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान की आलोचना तो की ही जानी चाहिए क्योंकि मात्र 11.5 प्रतिशत सम्भ्रान्त भारत की आम जनता के अधिकारों, महत्वाकांक्षाओं और आशाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते और यह स्पष्ट तौर पर भारतीय संविधान में दिखता है। संविधान सभा के इस चरित्र से नेहरू भी वाकिफ़ थे और आज़ादी से पहले उन्होंने इसकी आलोचना की थी और कहा था कि आज़ादी के बाद सार्विक वयस्क मताधिकार के आधार पर नये संविधान सभा का गठन होगा। हालाँकि भारत के बड़े पूँजीपतियों के प्रतिनिधि नेहरू को भारत की आम जनता के अधिकारों की ज़्यादा परवाह भला क्यों होती! भारतीय संविधान के रूप में उन्हें यहाँ की जनता के उत्पीड़न नियंत्रण का बना-बनाया उपकरण मिल गया था।

जिस संविधान की दुहाई बात-बात पर दी जा रही है उसके

395 अनुच्छेदों में से 250 अनुच्छेद कुख्यात 'गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया एक्ट 1935' से हूबहू या थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ अपना लिये गये । यह वही 'गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया एक्ट 1935' है जिसे पण्डित नेहरू ने 'गुलामी के चार्टर' की संज्ञा दी थी। इन मायनों में इस गुलामी के चार्टर के प्रावधानों का दायरा इतना विस्तृत है कि नागरिक अधिकारों के हनन यहाँ तक कि 'जीने के अधिकार' का अतिक्रमण करने के लिए राज्य को संविधान के उल्लंघन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, ये सारे प्रावधान गर्व से स्वर्ण अक्षरों में इस "पवित्र ग्रन्थ" में मौजूद हैं। राज्य द्वारा लिये गये घोर गैर जनवादी निर्णय, जैसे 1975 का अपातकाल और जम्मू-कश्मीर तथा नार्थ-ईस्ट (पूर्वोत्तर) में वस्तुत: सैन्य तानाशाही जैसी स्थिति, माओवादियों के नाम पर केंद्रीय भारत के आदिवासी बहुल इलाके की जनता के ख़िलाफ़ युद्ध जैसे हालात, पोटा, टाडा और यूएपीए जैसे तमाम काले कानून पूर्ण रूप से संविधानसम्मत हैं। इस मामले में भारतीय संविधान कुख्यात जर्मन राइख़ के विधिशास्त्र के क़रीब है। परन्तु कन्हैया और जेएनयू की उपाध्यक्ष शेहला राशिद घूम-घूम कर पूरे देश में भारतीय संविधान के समर्थन में और अपने राष्ट्रवादी होने का प्रचार कर रहे हैं और बार-बार तिरंगे को बचाने की बात कर रहे हैं। हद तो तब हो गयी जब एक बार तो शेहला ने भगवा तक को अपनाने की बात कर दी!

सही भी है क्योंकि संशोधनवादी सत्ता में पहुँच कर इन कानूनों का इस्तेमाल करने में कभी पीछे नहीं रहे हैं तो शेहला और कन्हैया यहाँ अपनी भाकपा माले व भाकपा माले के संशोधनवाद के उसूलों के प्रति प्रतिबद्ध हैं। सिंगुर, नन्दीग्राम संशोधनवादियों की असली परिणति है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 22 के गैरजनवादी पहलु पर भी बात कर ली जाय क्योंकि दिन में हज़ारों बार जनवाद रटने वाले संशोधनवादी कन्हैया और शेहला को संविधान के इस हिस्से के प्रति गान्धारी नहीं बन जाना चाहिए। हालाँकि इस पवित्र ग्रन्थ के इतने और गैरजनवादी पहलू हैं कि उनके लिए अलग से लिखने की आवश्याकता पड़ जायेगी और वह इस लेख का विषय भी नहीं है लेकिन फिर भी अनुच्छेद 22 पर थोड़ी चर्चा आवश्यक है। यह वही अनुच्छेद है जिसका भारतीय राज्य ने नागरिक अधिकारों के हनन और आम जनता के आन्दोलनों को कुचलने के लिए जम कर उपयोग किया है। अभी हमारे नये-नये बने संविधान की स्याही सूखी भी नहीं थी कि इस अनुच्छेद के तहत पहला कानून पारित हुआ, निरोधक नज़रबंदी क़ानून 1950 ('प्रिवेंण्टिव डिटेन्सन एक्ट') जो 1969 तक प्रभावी रहा। यह कानून तेलंगाना में चल रहे किसान आन्दोलन के दमन के लिए बनाया गया था जिसमें 90 प्रतिशत किसान दलित और निचली जातियों के थे। इसके बाद कानून बदलते गये और हर बार पहले से ज़्यादा कठोर, बर्बर, क्रूर और गैर जनवादी होते गये। 1971 में 'मीसा' ('मेण्टिनैन्स ऑफ़ इण्टरनल सिक्योरिटी एक्ट') लगाया गया जो आपातकाल के दौरान राज्य की नग्न तानाशाही का प्रतीक बन गया। 1980 में 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' नामक काला कानून लाया गया जो अभी तक अस्तित्व में है। 1985 में 'टाडा'('टेररिज़्म एण्ड डिसरप्टिव एक्टिविटीज़ एक्ट') लाया गया जिसका आतंकवाद से लड़ने के नाम पर जमकर दुरुपयोग हुआ। 2002 में तत्कालीन राजग सरकार ने आतंकवाद से लड़ने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताने के लिए अभूतपूर्व तरीके से पहले अध्यादेश जारी करके और फिर संसद की संयुक्त बैठक बुलाकर 'पोटा' ('प्रिवेंशन ऑफ़ टेररिज़्म एक्ट') जो अपने कुख्यात कारनामों के लिए प्रसिद्ध है। 2004 में संप्रग सरकार ने इस कानून को रद्द तो किया लेकिन उससे भी ख़तरनाक कानून लाने के लिए; वह था ग़ैरकानूनी गतिविधियाँ निरोधक कानून जिसमें ('अनलॉफ़ुल एक्टिविटीज़ प्रिवेंशन एक्ट') 'पोटा' के भी सारे काले प्रावधान डाल दिये गये। इसके अतिरिक्ति राज्यों के पास अपने काले कानूनों का रिजर्व है, मिसाल के तौर पर महाराष्ट्र में 'मकोका' और छत्तीसगढ़ में 'छत्तीसगढ़ विशेष सुरक्षा अधिनियम'। भारतीय संविधान के अभी ऐसे और भी "गुणों" का बखान किया जा सकता है परन्तु 'आफ्सपा' की बात तो ज़रूरी है। जम्मू कश्मीर में 7 लाख की संख्या में सेना की मौजूदगी के साथ यह विश्व का सबसे अधिक सैन्यीकृत क्षेत्र है। पूर्वोत्तर के राज्यों में यह क़ानून 1958 से लागू है, इसके तहत वहाँ की जनता के साथ जो घोर अमानवीय व्यवहार हो रहा है वह हमसे छिपा नहीं है।

जम्मू-कश्मीर और पूर्वोत्तर के राज्यों की जनता जो लगातार इन काले कानूनों के तहत दमन झेल रही है (और जो इसी संविधान के दायरे में सम्भव हुए है), उसके अथाह दु:ख तकलीफ़ों से क्या संविधान प्रेमी कम्युनिस्टों का कोई सरोकार रह जाता है? जब वैचारिक दिवालियेपन के शिकार ये "क्रान्तिधर्मी" भारतीय संविधान के सबसे बड़े संरक्षक के रूप में अपने को पेश करते हैं और संविधान पर ऊँगली उठाने वालों की ऊँगली तोड़ने की बात करते हैं तो इनकी असलियत को समझा जा सकता है। दरअसल यहाँ भारत के संशोधनवादी इस व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति को ख़ुद ही बेपर्द कर रहे हैं।

"लाल कटोरी" और "नीली कटोरी"

लम्बे समय से भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में अम्बेडकर को अपनालेने की होड़ मची हुई है। इस होड़ में अब भारतीय जनता पार्टी भी शामिल हो गयी है। लेकिन आज क्रान्तिकारी वामपन्थी संगठन भी मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के बीच कुछ घालमेल करने की समझौतापरस्त भावभंगिमा में नज़र आ रहे हैं। संसदीय वाम की तो बात ही क्या करें मौकापरस्ती की मिसाल पेश करने में वे हमेशा आगे रहते हैं। जेएनयू आन्दोलन

के दौरान भी लाल (वाम) और नीले (अम्बेडकर) को मिलाने का अथक प्रयास किया गया।

नीले और लाल के समागम का द्रविड़ प्राणायाम एक विचित्र बैंगनी धुन्ध चारों ओर फैलाये हुए है जिसकी वजह से एक आम राजनीतिक कार्यकर्ता या कहा जाय कि नया रंगरूट जो शिद्दत से समाज परिवर्तन की राजनीति में सक्रिय है, बेहद परेशान और हक्का-बक्का है कि आखिर किस लाइन को अपनाया जाये? इस पूरे बैंगनी आवरण का वर्तमान रूप में सबसे प्रचलित सूत्रीकरण है – भारत के आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ने के लिए मार्क्सवाद और सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध लड़ने के लिए अम्बेडकरवाद, नारीवाद आदि। 'फ्रीडम स्वायर' (जेएनयू में प्रदर्शन स्थल) से कन्हैया ने अपने भाषण में इसी शब्दाडम्बर को 'लाल कटोरी और नीली कटोरी' के रूपक के माध्यम से दुहराया। इस बेहद अवसरवादी और मजाकिया सूत्रीकरण के बारे में यही कहा जा सकता है कि ऐसे सूत्रीकरण देने वाले न तो आर्थिक शोषण को समझते हैं और न ही सामाजिक उत्पीड़न को। मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद दो बिल्कुल भिन्न विचारधारा, विपरीत पहुँच-पद्धति और विरोधी विश्व-दर्शन है जिनका कोई समागम बिन्दु हो ही नहीं सकता। बार-बार किया जाने वाला यह विचित्र प्रयास निपट मासूमियत (जो कि राजनीति में होती नहीं) या (असल में) घोर अवसरवाद का परिचायक है और यह "मासूमियत" हमें जेएनयू कैम्पस और इसके बाहर प्रचुर मात्रा में देखने को मिल रही है। जेएनयू में 'एचएलईसी' के विरुद्ध चल रहे अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल के दौरान एक ऐसी ही मासूम विचारधारा वाला संगठन "भगतसिंह अम्बेडकर छात्र संगठन (बासो)" भी अस्तित्व में आया है जो भगतसिंह और अम्बेडकर के विचारों को मिलाने का अथक प्रयास कर रहा है। आन्दोलन के दौरान 'जय भीम', 'लाल सलाम' और 'नीला सलाम' का नारा सामान्य रूप से सभी वाम संगठनों ने इतने जोश से, बुलन्द आवाज़ में और दृढ़ विश्वास के साथ लगाया मानो अब "अम्बेडकर" के पास कोई विकल्प नहीं है बस उन्हें तो अब इस खेमे में आना ही होगा। वैसे लाल और नीले का मिलान करने का अनवरत प्रयास वाम की ओर से ही नज़र आता है। इस मामले में अम्बेडकरवादी संगठन अपने विचारों के प्रति ज्यादा प्रतिबद्ध और दृढ़ नज़र आते हैं साथ ही मार्क्सवाद सम्बन्धी अम्बेडकर के विचारों का विश्वास के साथ पालन करते हैं कि "मार्क्सवाद सूअरों का दर्शन है!"।

ज़्यादातर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट भी जो अब मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के मिलान की बात कर रहे हैं- अपराधबोध और आत्मभर्त्सना की मुद्रा में यह स्वीकार करते हैं कि कम्युनिस्ट आन्दोलन ने अतीत में जाति प्रश्न की घोर उपेक्षा की और इसके प्रति यांत्रिक अर्थवादी या वर्ग-अपचयनवादी (क्लास-रिडक्शनिस्ट) रवैया अपनाया इसलिए आज अब अम्बेडकर को अपना कर वे अतीत के पाप धो लेंगे। जेएनयू कैम्पस में वाम बिना किसी प्रतिरोध के अम्बेडकरवादी संगठनों की भर्त्सना सुनता है मानों उनके कहे सभी आरोप सही हैं। हालाँकि इनमें से ज़्यादा आरोप सार-संग्रहवादी ढंग से इतिहास की कुछ घटनाओं की गिनती के आधार पर लगाये जाते हैं न कि ठोस तथ्यों के ठोस विश्लेषण से। यह बात सही है कि इतिहास में कम्युनिस्ट पार्टी जनवादी क्रान्ति की मंजिल में भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के मार्क्सवादी विश्लेषण के आधार पर जाति-वर्ग के सम्बन्धों को समझने में अक्षम रही; जाति आधारित सामाजिक विभाजन और सांस्कृतिक भेद-भाव के ख़िलाफ़ सतत, व्यापक और सुनियोजित कार्यक्रम प्रस्तुत करने में नाकाम रही; साथ ही पार्टी यह बताने में भी अक्षम रही कि सर्वहारा राज्य की स्थापना के बाद जाति व्यवस्था के पूर्ण उन्मूलन की प्रक्रिया या सामान्य दिशा क्या होगी। यह पार्टी की आम कमजोरी थी जो न केवल जाति के प्रश्न पर लागू होती है बल्कि अन्य सभी महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक और सामाजिक प्रश्नों पर लागू होती है, उदाहरण के तौर पर पार्टी के पास स्त्री प्रश्न, राष्ट्रीयताओं के प्रश्न पर भी पार्टी की कोई ठोस समझदारी नहीं थी। इस प्रकार जिस पार्टी के पास अपनी स्थापना के 31 सालों तक क्रान्ति का कोई कार्यक्रम न हो ऐसी पार्टी से सिर्फ़ जाति के प्रश्न पर समझदारी की अपेक्षा कैसे की जा सकती है?

यह बात सही है कि जाति प्रश्न की एक वैज्ञानिक समझदारी और विश्लेषण का अभाव बना रहा लेकिन यह कह देना कि यह पार्टी का कभी एजेण्डा नहीं था यह इतिहास निषेधी बात होगी। 1930 में 'कार्रवाई के लिए संयुक्त मंच' के अपने दस्तावेज़ में पार्टी ने जाति प्रथा और अस्पृश्यता की तफ़सील से चर्चा की है। पुनः 1948 में हुई पार्टी की दूसरी कांग्रेस की राजनीतिक थीसिस के दस्तावेज़ में भी इस प्रश्न को उठाया गया है और पाँच पैराग्राफ अस्पृश्यों की समस्या पर दिया गया है। एटक ने भी अपने चौथे पाँचवें और छठे अधिवेशन में अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव को मुद्दा बनाया था और बाद में भी इसे 'मज़दूर वर्ग के चार्टर' में शामिल किया गया था। किसान सभा की केन्द्रीय परिषद ने भी सितम्बर 1945 में अपने माँगपत्रक में अस्पृश्यता विरोधी माँग शामिल की थी। बिहार और उत्तर प्रदेश के सवर्ण भू-स्वामी तो हिक़ारत से कम्युनिस्ट पार्टी को 'चमारों दुसाधों की पार्टी' कहा ही करते थे। कम्युनिस्टों का मुख्य सामाजिक आधार ही गाँव के भूमिहीनों में था, जो ज़्यादातर दलित थे। देश के सैकड़ों स्थानों पर कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं ने दलितों के साथ भेदभाव या उनके उत्पीड़न के विरुद्ध आन्दोलन चलाये। 1951-52 तक पेशेवर क्रान्तिकारियों की परम्परा वास्तविक अर्थों में मौजूद थी और

सवर्ण जातियों से आने वाले कार्यकर्ता भी दलित बस्तियों में ही रहते थे। यह याद रखना होगा कि तेलंगाना किसान संघर्ष की पूर्वपीठिका बनाते हुए आन्ध्र महासभा में काम करने के दौरान कम्युनिस्टों ने अन्य सामाजिक बुराइयों के अतिरिक्त जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता, धार्मिक रूढ़ियों और स्त्रियों की ग़ुलामी को भी मुद्दा बनाया था और शक्तिशाली सामाजिक आन्दोलन के ज़रिये वर्गीय एकजुटता को मज़बूत बनाया था। तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा-वायलार के किसान संघर्षों में लड़ रहे रैयतों और भूमिहीन किसानों में बहुसंख्या दलित और निचली जातियों की थी और इन संघर्षों में किसानों के साथ कम्युनिस्ट कार्यकर्ता भी नेहरू की सेना और निज़ाम के गुण्डों के बर्बर दमन के शिकार हुए थे। ये शहीद कम्युकनिस्ट कार्यकर्ता किसानों का संघर्ष छोड़ कर भाग नहीं गये बल्कि उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलकर लड़े और शहीद हुए थे।

इतिहास के तथ्यों को बिना जाने आरोप लगा देना आसान होता है। इतिहास का एक तथ्य यह भी है कि जब सारा देश साइमन कमीशन के विरोध में उबल रहा था तो अम्बेडकर कमीशन के सामने अर्जी लिख रहे थे। कुख्यात गर्वनमेंण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के ख़िलाफ़ होने वाले आन्दोलन से भी अम्बेडकर ने अपने आपको दूर रखा। हालाँकि, बाद में १९३० तक अम्बेडकर ने ब्रिटिश हुकूमत की कुछ नुख्तों पर आलोचना की लेकिन जब उन्होंने अंग्रेजी हुकूमत की आलोचना की तब भी उन्होंने उसके विरोध में किसी जन आन्दोलन की हिमायत नहीं की। इतना ही नहीं उन्होंने अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ होने वाले को संघर्ष उच्चजाति हिन्दू राज्य की स्थापना के लिए बताया। अम्बेडकर कांग्रेस के उच्च जाति नेतृत्व का विरोध करते रहे लेकिन उन्होंने कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित पद, संविधान सभा के अध्यक्ष, को सहर्ष स्वीकार किया और जब पूरे देश में छात्र, मज़दूर, किसान आन्दोलन चला रहे थे, तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा-वायलार में बहुसंख्या में आदिवासी और दलित संघर्ष कर रहे थे, जान की कुर्बानी दे रहे थे तब अम्बेडकर ने इनके खिलाफ एक शब्द भी नहीं कहा क्योंकि सैद्धांतिक तौर पर अम्बेडकर का यह मानना था कि सामाजिक परिवर्तन के लिए राज्यसत्ता ही सबसे तार्किक अभिकर्ता होती है और किसी भी राज्यसत्ता के विरुद्ध विरोध अथवा सशत्र संघर्ष को वह गलत मानते थे। इसलिए जब अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ किसान और नौजवान लड़ रहे थे उस समय अम्बेडकर संविधान सभा के अध्यक्ष थे उस समय इन संघर्षों और उनके दमन पर चुप्पी साधे रहे। यह वही समय था जब नेहरू की सेना निजाम के जमीन्दारों के गुण्डा गैंग के साथ मिल कर तेलंगाना के रैयत और भूमिहीन किसानों का बर्बर दमन कर रही थी जिसमें से अधिकांश शूद्र और दलित जातियों से थे। तब भी अम्बेडकर अपने विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के चलते शासक वर्गों और राज्य सत्ता के साथ समझौते और सहयोग की रणनीति को ही अपना रहे थे।

यह तथ्य कि कम्युनिस्ट पार्टी के पास जाति उन्मूलन का कोई कार्यक्रम नहीं था यदि सही है (और जो कि सही है) तो यही बात अम्बेडकर पर भी लागू होती है। अम्बेडकर ने भी जाति उन्मूलन के लिए कोई व्युवस्थित और कारगर योजना प्रस्तुत नहीं की थी। भावना में बह कर पूरी बात को रद्द करने की जगह वैज्ञानिक और तार्किक धरातल पर अम्बेडकर की विचारधारा को समझने की आवश्यकता है। अम्बेडकर जाति उन्मूलन के अपने तमाम गम्भीर और सच्चे सरोकारों के बावजूद ड्यूईवादी व्यवहारवाद और उदार बुर्जुआ विचारधारा की वजह से जाति उन्मूलन की कोई ऐतिहासक परियोजना पेश नहीं कर पाये। उनकी विचारधारा ड्यूईवादी उपकरणवाद उन्हें बुर्जुआ कल्याणवाद से आगे नहीं लेकर जाती थी। यह दृढ़विश्वासी तौर पर क्रान्तिकारी तौर-तरीकों का विरोधी था और समाज के विकास के क्रमिकतावादी (ग्रेजुएलिस्ट) सिद्धान्त पर यकीन रखता था और राज्यसत्ता को समाज का सबसे तार्किक अभिकर्ता मानता था। ऐसे में, अम्बेडकर की विचारधारात्मक अवस्थिति, यानी ड्यूईवादी व्यवहारवाद ही उन्हें कभी भी राजनीतिक तौर पर सुधारवाद से आगे जाने की इजाज़त नहीं देता था। यही कारण है कि दलितों के उत्थान के लिए सुधारवाद के दायरे से जो चीज़ें हो सकती थीं, वे अम्बेडकर ने की। साथ ही, जाति के उन्मूलन के प्रश्न को पहली बार राष्ट्रीय राजनीतिक एजेण्डे पर वांछनीय प्रमुखता के साथ रखना और साथ ही दलितों के बीच अपनी गरिमा और आत्मसम्मान का भाव पैदा करने में भी उनकी महती भूमिका थी। लेकिन साथ ही यह समझना भी ज़रूरी है कि सुधारवाद के दायरे के भीतर जो कुछ अर्जित हो सकता था, वह अर्जित हो चुका है। अब रियायतों और सुधारों से आगे बढ़कर उस शोषण आधारित व्यवस्था पर सवाल उठाने का समय आ गया है जो जाति और ब्राह्मणवादी विचारधारा को अपने वैधीकरण, शोषित जनता के प्रतिरोध को तोड़ने, उन्हें बाँटने के लिये उपयोग कर रही है जैसा कि पहले की तमाम शोषक, उत्पीड़क व असमानतापूर्ण व्यवस्थाओं ने किया।

वहीं यदि मार्क्सवादी नज़रिये से पूरी परिस्थिति का विश्लेषण करें तो यह सूत्रीकरण कि सामाजिक उत्पीड़न के लिए अम्बेडकरवाद, नारीवाद आदि की ज़रूरत है और आर्थिक शोषण के लिए मार्क्सवाद समाधान है – हम पायेंगे कि सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण चाहे वह भारत के सन्दर्भ में हो या पूरे विश्व स्तर पर, ये दो परिघटनाएँ हर हमेशा अन्तर्गुन्थित होती हैं और एक दूसरे को बढ़ावा देती हैं। इन दोनों को अलग-अलग देखना और दोनों के समाधान के लिए विभिन्न विचारधारा की आवश्यकता की बात करना

गम्भीर भूल होगी और इससे भयंकर सैद्धान्तिक विभ्रम पैदा होगा और जो कि बैंगनी कुहासे के रूप में फैल भी रहा है।

विश्वविद्यालयों में ग़रीब पृष्ठभूमि से आने वाले दलित छात्र-छात्राएँ और कारखानों में दलित और निचली जाति से आने वाले मज़दूरों को खासतौर से जातिगत उत्पीड़न के नग्नतम रूपों का सामना करना पड़ता है। वहीं एक अच्छी आर्थिक पृष्ठभूमि से आने वाले दलित और निचली जाति के छात्र/छात्राओं और ऊँचे पद पर आसीन दलित पदाधिकारी के साथ जो जातिगत भेदभाव होता है उसकी तुलना हम पहली श्रेणी के उत्पीड़न से नहीं कर सकते। दलित और निचली जाति से आने वाले मज़दूर अपनी अरक्षित सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की वजह से आर्थिक शोषण के साथ-साथ आर्थिकेतर शोषण के भी शिकार ('एक्स्ट्रा इकनोमिक कोएर्सिएन' coercion) होते हैं जो पूँजीवादी मुनाफ़े को अतिमुनाफ़े में तब्दील करता है। इसके अलावा, संसाधनों के बँटवारे में पूँजीवाद स्वभावतः जो असमानता पैदा करता है, जातिगत विभेद इस असमानता को और भी ज़्यादा बढ़ाने का काम करता है और वितरण के तमाम विनियामकों में से एक विनियामक का काम करता है। ऐसे में, जातिगत विभाजन और उत्पीड़न को आर्थिक शोषण से स्वायत्त समझ लेना एक भयंकर भूल है।

सामाजिक शोषण और आर्थिक उत्पीड़न जिस तरह नाभिनालबद्ध हैं उसका समाधान पूँजीवाद के दायरे में सम्भव नहीं है क्यों कि जिस व्यवस्था को वैधीकरण, अतिमुनाफ़े, शोषितों को बाँटने, वर्ग एकजुटता तोड़ने के लिए जाति व्यवस्था के रूप में बेहद प्रभावी उपकरण मिला हुआ हो वह खुद इसे समाप्त करने का काम क्यों ही करेगी। इसलिए जाति उन्मूलन का दीर्घकालिक कार्यक्रम तो समाजवाद का ही कार्यक्रम हो सकता है। लेकिन जुझारू सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के बग़ैर क्रान्ति भी सम्भव नहीं है और क्रान्ति के बिना जाति का निर्णायक तौर पर उन्मूलन भी सम्भव नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि क्रान्ति के साथ ही जाति का उन्मूलन हो जायेगा। लेकिन इतना अवश्य है कि क्रान्ति के साथ इस समूची सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को इतिहास की कचरा पेटी में पहुँचाया जा सकेगा जो जाति व्यवस्था को खाद-पानी देती रही है। इसलिए आज ज़रूरत है वर्ग-आधारित जाति विरोधी जुझारू और क्रान्तिकारी आन्दोलन खड़ा करने की। इस रूप में आज जो लोग "जय भीम" और "लाल सलाम" को एक करते हुए अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद को मिला रहे हैं वे ***'सब कुछ चलता है'*** और लोकरंजकतावाद की अवसरवादी राजनीति कर रहे हैं।

कानूनी लड़ाई और राजनीतिक संघर्ष

जेएनयू पर संघ के आक्रमण के विरुद्ध चले इस आन्दोलन का सबसे प्रभावी पहलू था छात्र-छात्राओं और शिक्षकों की शक्तिशाली एकता। आन्दोलन के हर मोड़ और हर पड़ाव पर यह एकता और एकजुटता बनी रही। जेएनयू को राष्ट्रविरोधी घोषित किये जाने और इस पर लगे तमाम आरोपों के अलावा यह संघर्ष कन्हैया, उमर और अनिर्बान को रिहा करने के लिए भी था। इस आन्दोलन को व्यापक स्तर पर मात्र जेएनयू के अन्दर से नहीं बल्कि जेएनयू के बाहर, देश के अलग-अलग हिस्सों और विश्वभर से समर्थन मिल रहा था। यह तथ्य कि 'कन्हैया, उमर और अनिर्बान के ऊपर राष्ट्रद्रोह का अपराध सबित कर पाना मुश्किल था इसलिए उन्हें जमानत मिल गयी' बात सिर्फ इतनी नहीं थी। सरकार के ऊपर जनान्दोलनों का जबर्दस्त दबाव था, देश स्तर पर और विश्वभर से बुद्धिजीवी, संस्कृतिकर्मी, राजनीतिक कार्यकर्ता और छात्र जेएनयू के समर्थन में सड़कों पर उतरे। सरकार को अपने कद़म पीछे खींचने पड़े। लेकिन जिस प्रकार यह आन्दोलन समाप्त हुआ वह बेहद असंतोषजनक रहा।

'एचएलईसी' पर निर्णय के बाद एक बार फिर सभी छात्र-छात्राओं पर लगे जुर्माने, हॉस्टल से निकाले जाने और अकादमिक प्रतिबन्ध के ख़िलाफ़ एक सुदृढ़ आन्दोलन खड़ा हुआ जिसकी शुरुआत अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल से हुई और कई रचनात्मक रूप अपनाये गये। कलाकर्मी, संस्कृतिकर्मी, 'म्युजिकल बैंड' अपनी एकजुटता प्रदर्शित करने आये। लेकिन जब इन सभी विभिन्न रूपों में आन्दोलन आगे बढ़ रहा था उसी दौरान उमर और अनिर्बान बिना किसी सूचना के 'एचएलईसी' के लिए न्यायालय का दरवाज़ा खटखटाने चले गये। इसके अलावा इतने जुझारू रूप से चल रहे संघर्ष को एकबारगी न्यायालय के चौखटे पर पटक देना बहुत बड़ी गलती थी। इस आन्दोलन में शामिल सभी छात्र-छात्राओं, शिक्षक और अन्य सभी इस बात के लिए तैयार थे कि 'एचएलईसी' के एक भी दण्ड को स्वीकार नहीं किया जायेगा। फिर उमर और अनिर्बान ने यह कदम क्यों उठाया? यह सवाल तो संघर्षरत हर छात्र-छात्रा उनसे पूछेंगे। 'एचएलईसी' के विरुद्ध संघर्ष के माध्यम से संघ की कठपुतली जेएनयू के कुलपति और स्वयंसेवक संघ को एक करारा जवाब दिया जा सकता था। दरअसल यह अराजकता, नायकवाद, गैरजनवादी प्रवृत्ति, 'लाइम लाइट' मानसिकता की वह अवसरवादी छूत की बीमारी है जो उत्तरआधुनिकतावाद और 'इण्डिजिनियस' पूजा वृत्ति के साथ जड़ जमाती हुई आंदोलन में मौजूद है और लोकरंजकता की लहर की सवारी करती मार्क्सवादी नज़रिये को तिलांजली देती रही है। 'एचएलईसी' का मामला पूरी तरह न्यायालय को सुपुर्द कर दिया गया और न्यायालय ने किसी भी तरह की राजनीतिक कार्यवाही पर रोक लगा दी है। खुद से न्यायालय का दरवाजा खटखटाना भगवा दबाव के आगे घुटने टेकने के बराबर हुआ

या फिर यह कि उनको जनान्दोलनों से ज़्यादा इस व्यवस्था पर विश्वास हो आया।

भारत के वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में जब गुनाह साबित करने के सारे सबूत मौजूद होने के बावजूद साध्वी प्रज्ञा को बाइज्ज़त बरी कर दिया जाता है, इशरत जहाँ केस में लम्बे समय से तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ चल रही है, हाशिमपुरा हत्याकाण्ड के मामले में न्याय का जो मजाक बनाया गया उसके बाद भी जनान्दोलनों की शक्ति की जगह न्यायालय पर भरोसा इनकी राजनीति का दिवालियापन ही दिखता है।

आन्दोलन की सीमा : जेएनयू परिसर और देश के कुछ अन्य विश्वविद्यालयों तक सीमित

शहर से घेरते हुए विश्वविद्यालय परिसर पर हमला संघ की चाल है जिसे हमने 'एफटीआईआई' के आन्दोलन के समय भी देखा और यही जेएनयू पर भी लागू होता है। राष्ट्रवादी-राष्ट्रद्रोही, अनैतिक, नशाखोर, आतंकवादी आदि के नाम पर आम जनता को विश्वविद्यालय के ख़िलाफ़ खड़ा करने की चाल को गम्भीरता से न समझ पाने की भूल इस आन्दोलन की कमजोरी रही। आन्दोलन के दौरान बार-बार यह बात दुहरायी गयी कि इस आन्दोलन को विश्वविद्यालय परिसर से बाहर ले जाने की आवश्यकता है। फासीवाद का सामाजिक आधार टुटपुँजिया वर्गों में होता है जिसमें निम्न मध्यवर्ग से लेकर खाते-पीते मध्यवर्ग आते हैं, और अगर पेशे की बात करें तो छोटे व्यापारी, दुकानदार, ठेकेदार, दलाल, 'प्रापर्टी डीलर', शेयर व्यवसायी, छोटे दुकानदार से लेकर खाते-पीते कर्मचारी आते हैं, साथ ही निम्न मध्यवर्ग के पीले बीमार चेहरे वाले नौजवानों की एक भीड़ भी शामिल होती है जो बेरोजगारी, अभाव और अनिश्चितता में लगातार जीते रहने के कारण भयंकर प्रतिक्रिया के शिकार होते हैं। अपने इस सामाजिक आधार के बल पर फासीवादी तत्त्व विश्वविद्यालयों को घेरने का प्रयास कर रहे हैं। जेएनयू के गेट पर 9 फरवरी के बाद जुटी भीड़ में हम इस आबादी को देख सकते थे। यह वही टुटपुँजिया वर्गों की जमात थी जो पंचम स्वर में 'भारत माता की जय' का नारा लगा रही थी और जेएनयू को बन्द करने की माँग कर रही थी।

ऐसे में हमें अपनी बात आम जनता तक पहुँचानी ज़रूरी है जहाँ संघ के कार्यकर्ता अपनी पकड़ बना रहे हैं। बात सिर्फ़ अतार्किकता, अनऐतिहासिकता या अवैज्ञानिकता की नहीं है। बेशक, फासीवादी राजनीति बुर्जुआ वर्ग की वह नंगी प्रतिक्रिया होती है, जो टुटपुँजिया वर्गों के रूमानी, अज्ञानी, अन्धे उभार पर सवार होकर आती है और प्रतिक्रियावादी विचारों का भयंकर घटाटोप तैयार करती है। इस घटाटोप के विरुद्ध हमें अपने तर्क के साथ आम जनता में जाना चाहिए और बताना चाहिए कि यह निजीकरण, उदारीकरण और खुले बाज़ार की नीतियाँ ही हैं जिससे गरीब और मेहनतकश आबादी की थाली से रोटी और दाल छीनी जा रही है, मज़दूरी घटायी जा रही है, छात्रों से छात्रवृत्ति छीनी जा रही है, फीसें बढ़ रही हैं और सुविधाएँ घटायी जा रही हैं। उन्हें यह बताना आवश्यक है कि आर्थिक मन्दी के इस दौर में फासीवाद व्यवस्था का सबसे निष्ठावान, आज्ञाकारी और भरोसेमन्द संरक्षक है। यह बात आम जनता तक उनके शब्दों में ले जाना बेहद ज़रूरी है कि भोजन, आवास, रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे मूल सवालों से भटकाने के लिए फासीवाद अपने तमाम 'फेटिश' गढ़ते हुए हमें आपस में बाँटने का काम कर रहा है और यह कि फासीवाद तत्काल जिस 'फेटिश' का जम कर उपयोग कर रहा है वह है 'राष्ट्रवाद'। पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान न केवल नदारद रहने वाले बल्कि अंग्रेजी सत्ता का गुणगान करने वाले, उनके तलवे चाटने वाले आज सबसे बड़े राष्ट्रवादी बने बैठे हैं और राष्ट्रवादी या राष्ट्रद्रोही होने का 'सर्टिफिकेट' बाँट रहे हैं। खैर, देश भर में छात्रों के बीच भी इस बात के प्रचार की आवश्यकता थी चूँकि संघ के लम्पट कार्यकर्ता दो-दो रुपये के गीता प्रेस के घोर प्रतिक्रियावादी विचारों के साथ जनता तक अपनी पहुँच बना रहे हैं। जेएनयू के आन्दोलन को कैम्पसों की चारदिवारी से निकलकर इन मेहनतकश अवाम तक जाना चाहिए था। लेकिन अफ़सोस यह आन्दोलन ऐसा कर पाने में असफल रहा।

आन्दोलन के दौरान यह बात उठी थी कि सत्र की समाप्ति पर छात्र-छात्राओं के वॉलण्टियर देश के कोने-कोने में जेएनयू के पर्चों और पुस्तिकाओं के साथ दौरा करेगें और आन्दोलन को व्यापक पहुँच वाला बनायेंगे। लेकिन एक बार फिर आन्दोलन घोर 'सेक्टेरियन' राजनीति का शिकार हो गया। दौरे तो किये गये लेकिन मात्र 'जेएनयूएसयू' के प्रतिनिधियों के और वह भी अपने-अपने सांगठकनिक हितों को साधने के लिए। आवश्यकता थी कि विभिन्न संगठनों के प्रतिनिधियों और उत्सुक छात्र-छात्राओं की कई-कई टोलियाँ बनायी जातीं जो देश के विभिन्न विश्विद्यिालयों और अलग-अलग राज्यों का दौरा करते हुए लोगों को इस आन्दोलन के ज़रिये फासीवाद के बढ़ते आक्रमण के विरुद्ध लामबन्द करते। जगह-जगह बैठकें की जाती, सभाएँ आयोजित होतीं और पर्चों, पुस्तिकाओं के माध्यम से एक बड़े आन्दोलन को खड़ा किये जाने की ओर बढ़ा जाता। लेकिन निजी सांगठनिक और व्यक्तिगत लाभों के आगे बड़ी लड़ाई और आन्दोलन की सोच होम हो गयी। दौरे तो बेशक हुए लेकिन कन्हैया, शेहला और अन्य कुछ गिने-चुने लोगों के और उनकी राजनीति की सीमा फिलहाल कैम्पसों के चुनाव को पार करती नज़र नहीं आती। ...

(पेज 43 पर जारी)

विरासत

प्रीतिलता वादेदार :चटगाँव विद्रोह की अमर सेनानी

● अजय

किसी भी व्यक्ति के लिए अपने मुल्क पर मर मिटने की राह चुनने के लिए सबसे पहली और महत्वपूर्ण चीज़ है- **जज़्बा या स्पिरिट**। किसी व्यक्ति के क्रान्तिकारी बनने में बहुत सारी चीज़ें मायने रखती हैं, उसकी पृष्ठभूमि, अध्ययन, जीवन की समझ, तथा सामाजिक जीवन के आयाम व पहलू। लेकिन उपरोक्त सारी परिस्थितियों के अनुकूल होने पर भी अगर जज़्बा या स्पिरिट न हो तो कोई भी व्यक्ति क्रान्ति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता। देश के लिए मर मिटने का जज़्बा ही वो ताकत है जो विभिन्न पृष्ठभूमि के क्रान्तिकारियों को एक दूसरे के प्रति, साथ ही जनता के प्रति अगाध विश्वास और प्रेम से भरता है। आज की युवा पीढ़ी को भी अपने पूर्वजों और उनके क्रान्तिकारी जज़्बे के विषय में कुछ जानकारी तो होनी ही चाहिए।

आज युवाओं के बड़े हिस्से तक तो शिक्षा की पहुँच ही नहीं है; और जिन तक पहुँच है भी तो उनका काफ़ी बड़ा हिस्सा कैरियर बनाने की चूहा दौड़ में ही लगा है। **एक विद्वान ने कहा था कि चूहा-दौड़ की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि व्यक्ति इस दौड़ में जीतकर भी चूहा ही बना रहता है; अर्थात इंसान की तरह जीने की लगन और हिम्मत उसमें पैदा ही नहीं होती। और जीवन को जीने की बजाय अपना सारा जीवन, जीवन जीने की तैयारियों में लगा देता है।** जाहिरा तौर पर इसका एक कारण हमारा औपनिवेशिक अतीत भी है जिसमें दो सौ सालों की गुलामी ने स्वतंत्र चिन्तन और तर्कणा की जगह हमारे मस्तिष्क को दिमागी गुलामी की बेड़ियों से जकड़ दिया है। आज भी हमारे युवा क्रान्तिकारियों के जन्मदिवस या शहादत दिवस पर 'सोशल नेट्वर्किंग साइट्स' पर फोटो तो शेयर कर देते हैं, लेकिन इस युवा आबादी में ज़्यादातर को भारत की क्रान्तिकारी विरासत का या तो ज्ञान ही नहीं है या फिर अधकचरा ज्ञान है। ऐसे में सामाजिक बदलाव में लगे पत्र-पत्रिकाओं की ज़िम्मेदारी बनती है कि आज की युवा आबादी को गौरवशाली क्रान्तिकारी विरासत से परिचित करायें ताकि आने वाले समय के जनसंघर्षों में जनता अपने सच्चे जन-नायकों से प्रेरणा ले सके।

आज हम एक ऐसी ही क्रान्तिकारी साथी का जीवन परिचय दे रहे हैं जिन्होंने जनता के लिए चल रहे संघर्ष में बेहद कम उम्र में बेमिसाल कुर्बानी दी। **प्रीतिलता वादेदार** का जन्म 5 मई, 1911 को चटगाँव में हुआ था। उनके पिता जगतबन्धु जिला मजिस्ट्रेट कार्यालय में बड़े बाबू थे और माँ प्रतिभामयी 'महिला जागरण' के काम में लगी थीं। प्रीतिलता वादेदार बहुत ही प्रतिभाशाली युवती थीं। 1930 में उन्होंने ढाका कॉलेज से 12वीं पास की और पूरे कालेज में प्रथम आयीं। स्कूली जीवन में ही वे बालचर-संस्था की सदस्य हो गयी थीं। वहाँ उन्होंने सेवाभाव और अनुशासन का पाठ पढ़ा। **बालचर संस्था** में सदस्यों को ब्रिटिश सम्राट के प्रति एकनिष्ठ रहने की शपथ लेनी होती थी। संस्था का यह नियम प्रीतिलता को खटकता था। उनके मन में बग़ावत का बीज यहीं से पनपा था। देश में किसानों-मज़दूरों की दुर्दशा और उन पर अँग्रेजों द्वारा बर्बर शोषण, उत्पीड़न देखकर प्रीतिलता के मन में तूफान उठा और उन्होंने अपनी प्रतिभा और योग्यता का उपयोग अपना कैरियर बनाने पर नहीं बल्कि वीरता से क्रान्तिकारी पथ पर चलने और जनता की सेवा के लिए करना उचित समझा। वह **मास्टर सूर्यसेन** के सम्पर्क में आयीं। मास्टर सूर्यसेन बंगाल के अग्रणी क्रान्तिकारी थे, वे 1930 में हुए चटगाँव (वर्तमान बंग्लादेश) शस्त्रागार काण्ड के नेता थे। उनके छापामार दल में अनेक युवा क्रान्तिकारी शामिल थे। मास्टर सूर्यसेन और उनका छापामार दल अँग्रेजों पर हमले करके उनमें आंतक बैठाना चाहता था और भारत के युवाओं को क्रान्ति के लिए जगाना चाहता था। सूर्यसेन के पीछे पुलिस हाथ-धोकर पड़ी थी वह खुद छिपते-छिपाते, भागा- दौड़ी में ही रहते थे। उनसे मिलना एक जोखिम भरा काम था लेकिन प्रीतिलता भेष बदलकर उनसे मिलने जातीं और निंदेशों को संगठन में लागू करवाती थीं। प्रीतिलता ने कॉलेज खत्म होने के बाद आर्थिक

किल्लत के कारण अध्यापिका की नौकरी भी की और एक विद्वान शिक्षिका के रूप में देखी जाने लगीं। अध्यापन कार्य से होने वाली आमदनी का बड़ा हिस्सा वह क्रान्तिकारियों के बीच खर्च कर देती थीं। 12 जून 1932 को सूर्यसेन अपने साथियों के साथ गुप्त योजना बना रहे थे कि पुलिस ने उन्हें आ घेरा। दोनों तरफ से गोलीबारी शुरू हो गयी। जिसमें पुलिस कप्तान अँग्रेज कैमरान मारा गया, कई क्रान्तिकारी भी शहीद हो गये लेकिन मास्टर सूर्यसेन और प्रीतिलता भागने मे सफल हो गये। इसके बाद प्रीतिलता पुलिस की निगाह में चढ़ गयीं। पुलिस ने प्रीतिलता की सूचना देने वाले को मुँहमाँगा ईनाम देने की घोषणा कर दी। यह खबर उनकी फोटो के साथ अख़बारों में छपी तो उनके माता-पिता को उनके क्रान्तिकारी होने का पता चला। इस घटना के बाद प्रीतिलता का कद क्रान्तिकारियों के बीच बहुत बढ़ गया। मास्टर सूर्यसेन को अपनी युवा महिला साथी की बहादुरी पर गर्व था। वे जान चुके थे कि प्रीतिलता अपना जीवन देश को समर्पित कर चुकी हैं। वह धुन की पक्की थीं और उनका ध्यान सदा अपने उद्देश्य पर रहता था। वह एक मजबूत और चतुर कमाण्डर साबित हुईं। चटगाँव में यूरोपियन क्लब था। वहाँ अँग्रेज अफसर शाम को नाच-गाना और मनोरंजन के लिए आया करते थे। सूर्यसेन ने इस क्लब को तहस-नहस करने की योजना बनायी क्योंकि क्रान्तिकारियों को आश्रय देने वाली एक महिला को अँग्रेजों ने अपना निशाना बनाया था। प्रीतिलता को हमले का नेतृत्व सौंपा गया। उन्होंने सैनिक वेशभूषा धारण की और खुद को पिस्तौल तथा बम से लैस किया। प्रीतिलता और सूर्यसेन को पता था कि मुकाबला कड़ा होगा। अँग्रेज भी क्रान्तिकारियों पर भारी पड़ सकते हैं। वे प्रीतिलता को पकड़कर उनसे संगठन का राज उगलवाने की कोशिश कर सकते हैं। प्रीतिलता ने अपने साथ जहर की एक पुड़िया भी रख ली थी। पुलिस से घिर जाने पर उसने जहर खाकर जान देने की ठान ली थी। **प्रीतिलता के साथ महेन्द्र चौधरी, सुशीला डे, प्रफुल्ल दास, प्रभात बल, मनोरंजन सेन जैसे क्रान्तिनायक थे। इसके अलावा पैंसठ युवक और युवतियाँ भी क्रान्तिदल में शामिल थे।** योजना के अनुसार प्रीतिलता ने अपने लोगों के साथ यूरोपियन क्लब पर आक्रमण कर दिया। हमले में दर्जन भर अँग्रेज अधिकारी घायल हुए। एक महिला के मारे जाने की भी खबर मिली। प्रीतिलता ने बहादुरी के साथ हमला किया। हमला इतना घातक था कि किसी को सँभलने का अवसर नहीं मिला। प्रीतिलता का सारा ध्यान अपने लक्ष्य पर था। वह एक कमाण्डर की तरह व्यवहार कर रही थीं। अँग्रेज पुलिस और क्रान्तिकारियों के बीच घण्टों तक गोलियाँ चलीं। आख़िरकार क्रान्तिकारियों की गोलियाँ खत्म हो गयीं। अब अँग्रेज सिपाहियों ने उन्हें धराशायी करना शुरू कर दिया। देखते ही देखते क्रान्तिकारियों की लाशें बिछने लगीं। प्रीतिलता को भी पुलिस ने घेर लिया। प्रीतिलता को समझते देर न लगी कि अब बचकर निकल पाना नामुमकिन है। फिर क्या था, उन्होंने तुरन्त जहर मुँह में डाल लिया, **'इंकलाब ज़िन्दाबाद'** का उद्घोष किया और हमेशा के लिए धरती की गोद में सो गयीं। प्रीतिलता के बलिदान के बाद अँग्रेज अधिकारियों को तलाशी लेने पर मिले पत्र में लिखा था कि, **"चटगाँव शस्त्रागार काण्ड के बाद जो मार्ग अपनाया जायेगा, वह भावी विद्रोह का प्राथमिक रूप होगा। यह संघर्ष भारत को पूरी स्वतंत्रता मिलने तक जारी रहेगा।"**

क्रान्तिकारी शहीद साथी प्रीतिलता वादेदार को उनके 106वें जन्मदिवस के अवसर पर शत्-शत् नमन! ●

फासीवादी हमले के विरुद्ध 'जेएनयू' में चले आन्दोलन से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण सवाल

(पेज 41 से जारी)

.... बेशक कन्हैया लम्बी "राजनीति" की तैयारी में हैं, शायद इसलिये उसे मोदी के ख़िलाफ़ आम जनता की ताकत से ज़्यादा भ्रष्ट नेताओं के चरणों में उम्मीद नज़र आ रही है।

कोई भी आन्दोलन जब व्यक्ति केन्द्रित होता है या 'सेक्टेरियन' राजनीति का शिकार होता है तो अपनी तमाम उर्वर सम्भावनाओं के बावजूद वह सत्ता के विरुद्ध राजनीतिक प्रतिरोध के तौर पर प्रभावी होने की क्षमता खो बैठता है। वह आन्दोलन किसी धूमकेतु की तरह आकाश में बस चमक कर रह जाता है। कुछ लोगों या संगठनों के नाम अखबारों और टीवी चैनलों की सुर्खियाँ बनते हैं और फ़िर वे इन्हें अपने-अपने फायदे के अनुसार भुनाते हैं। व्यापक राजनीति के साथ यह धोखाधड़ी और मौकापरस्ती इतिहास के इस कठिन दौर में जब फासीवाद इस कदर समाज पर छा रहा है और पूरी दुनिया में प्रतिक्रियावाद और कट्टरपन्थ का दौर है, बेहद महँगा साबित होने जा रहा है।

आज यदि एक पल को फासीवाद कुछ कदम पीछे हट भी जाये (वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य को देख कर ऐसा नज़र तो नहीं आता) तो भी आर्थिक संकट की जो स्थिति विश्व स्तर पर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में ग़हरे पैठी है उसके मद्देनज़र फासीवाद के विरुद्ध एक कारगर प्रतिरोध के लिए किसी भी आन्दोलन के सन्दर्भ में ऊपर गिनाये गये तमाम पहलुओं पर गम्भीरता से सोचने की ज़रूरत समय की माँग है। ●

ढोल की पोल

जुमले बनाम रोज़गार और विकास की स्थिति

● मुकेश त्यागी

2014 में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाली बीजेपी सरकार सत्ता में आयी थी तो जनता को और खासकर नौजवानों को बड़े-बड़े सपने दिखाये गये थे तथा लम्बे-चौड़े वायदे किये गये थे – देश का चहुँमुखी विकास होगा, आर्थिक तरक्की की रफ्तार तेज़ होगी, दो करोड़ नौजवानों को रोज़गार मिलेगा। अभी 31 मई को भी सरकार ने यही बताने की कोशिश की; जब सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) की वृद्धि दर के बढ़ने की घोषणा द्वारा बताया गया कि मार्च 2016 में खत्म हुई तिमाही में जीडीपी 7.9% की दर से बढ़ी और पूरे 2015-16 के वित्तीय वर्ष में 7.6% की दर से। टीवी और अख़बारों द्वारा जबर्दस्त प्रचार छेड़ दिया गया कि इस सरकार के निर्णायक और साहसी आर्थिक सुधारों की वजह से अर्थव्यवस्था संकट से बाहर आ गयी है; भारत दुनिया की सबसे तेज़ी से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था बन गया है और अब तेज़ी से विकास हो रहा है जिससे जनसाधारण के जीवन में भारी समृद्धि आने वाली है। आइये हम इन दावों और तथ्यों को थोड़ा गहराई से जाँचते हैं ताकि इसकी असलियत सामने आ सके।

अगर जीडीपी की वृद्धि की तस्वीर को ध्यान से देखें तो सरकार के जीडीपी में 7.9% वृद्धि के दावे पर ही सवाल उठ जाता है – कुल 2,21,744 करोड़ रुपये की वृद्धि में सबसे बड़ा आइटम है 'गड़बड़ी' या 'विसंगतियाँ' ('डिस्क्रीपेंसिज') – सारी वृद्धि का 51% यही है; इसे निकाल दीजिये तो यह वृद्धि सिर्फ़ 3.9% ही रह जाती है। इन 'गड़बड़ियों' की कोई व्याख्या नहीं दी गयी है। फ़िर इसको क्या समझा जाये? जीडीपी में वृद्धि के इस दावे पर कैसे भरोसा किया जाये? **खुद 'इकॉनोमिक टाइम्स' को भी 3 जून के अपने एक लेख '7.6%, भारत सबसे तेज़ वृद्धि वाली अर्थव्यवस्था या सर्वश्रेष्ठ आँकड़ों की हेराफेरी' में कहना पड़ा कि ''7.6% वृद्धि- वस्त्र विहीन सम्राट की खुशी के लिये आँकड़ों की बावली हेराफेरी है'।**

एक और पक्ष को देखें तो इस वृद्धि का दूसरा बड़ा हिस्सा है निजी उपभोग में 1,27,000 करोड़ का इजाफ़ा! लेकिन अगर निजी उपभोग इतनी तेज़ी से बढ़ा है तो यह उपभोग लायक वस्तुएँ आयी कहाँ से क्योंकि सरकार द्वारा ही प्रस्तुत दूसरे आँकड़े बताते हैं कि इस दौर में औद्योगिक उत्पादन सिर्फ़ 0.1% बढ़ा है! दुनिया के किसी देश में आजतक ऐसा किसी अर्थशास्त्री ने नहीं पाया कि बगैर औद्योगिक उत्पादन बढ़े ही जीडीपी इतनी तेज़ी से बढ़ जाये। इसी बात को एक दूसरे तरह से समझते हैं– जीडीपी के आँकड़े यह भी बताते हैं कि स्थाई पूँजीगत निर्माण अर्थात अर्थव्यवस्था में पूँजी निवेश 17 हजार करोड़ घट गया है। सवाल उठना लाजिमी है कि अगर अर्थव्यवस्था में इतना सुधार और तेज़ी है तो सरकार व निजी पूँजीपति दोनों नया पूँजी निवेश क्यों नहीं कर रहे हैं? क्या इसलिये कि उन्हें खुद इस प्रचार की सच्चाई पर भरोसा नहीं? **'इकॉनोमिक टाइम्स' इसका मजाक उड़ाते हुए कहता है कि 'निजी उपभोग में आकाश छूने वाली 1,27,000 करोड़ की वृद्धि हुई दिखायी गयी है। हम ऐसे किसी व्यक्ति को नहीं जानते जिसका उपभोग हाल के दिनों में इतना बढ़ा हो। हो सकता है टीसीए अनन्त (भारत के सांख्यिकी प्रधान) या उसके बॉस जेटली या उसके बॉस के बॉस नरेन्द्र मोदी के ऐसे कुछ दोस्त हों जिनका उपभोग इतना बढ़ा हो।'** ऐसे भी देखा जाये तो जब देश में एक तरफ भारी सूखे की स्थिति है, देश के निर्यात लगातार 15 महीनों से गिर रहे हैं, नौजवानों को नये रोज़गार नहीं मिल रहे हैं, जिनके पास रोज़गार है उनका वेतन महँगाई के मुकाबले नहीं बढ़ रहा है, सभी को मालूम है कि किसानों की आर्थिक दशा बेहद संकट में है, सरकार खुद संसद में बता रही है कि खेतिहर श्रमिकों की मज़दूरी पिछले दो वर्षों से गिर रही है (द मिण्ट , 11 मई), तब ऐसी स्थिति में देश का ऐसा कौन सा तबका है जिसका उपभोग इतनी तेज़ी से बढ़ा है कि उसकी वजह से जीडीपी में इतना भारी उछाल आया है! इन सवालों के उठने पर खुद प्रधान आँकड़ेबाज टीसीए अनन्त को स्वीकार करना पड़ा है कि इन आँकड़ों की 'गुणवत्ता' में बहुत कमियाँ हैं।

फ़िर सरकार एक और हैरतअंगेज तर्क लेकर आयी कि कृषि में वृद्धि 2.3% है – क्या देश के बड़े हिस्से में दो साल से चल रहे भयंकर सूखे की स्थिति में कोई इस बात का भरोसा करेगा क्योंकि कृषि में ऐसी वृद्धि सिर्फ़ अच्छे मानसून के सालों में ही देखी गयी है। लेकिन कुछ दूसरे तथ्यों के आधार पर इस बात को जाँचते हैं। **सरकार कहती है कि गेहूँ का उत्पादन बढ़कर 86 लाख टन हुआ है लेकिन मण्डियों में अब तक पिछले वर्ष के 29 लाख टन के मुकाबले 25 लाख टन गेहूँ ही आया है तो फ़िर बढ़ा हुआ उत्पादन कहाँ गया! कोई कहे कि भारत के किसान 1 साल में इतने अमीर हो गये कि अच्छी कीमत के इन्तज़ार में फसल को दबाये बैठे हैं तो उन्हें शायद दिमागी डॉक्टर की ज़रूरत है। कृषि**

में इस 2.3% वृद्धि को आज की स्थिति में सभी कृषि विशेषज्ञ अविश्वसनीय मान रहे हैं।

एक और तरह से भी स्थिति को समझ सकते हैं – बैंक क्रेडिट (कर्ज) में वृद्धि पिछले वर्ष 8 - 9% रही है जिसका भी बड़ा हिस्सा 'पर्सनल/हाउसिंग/क्रेडिट कार्ड' कर्ज का है, औद्योगिक नहीं- अप्रैल में तो औद्योगिक कर्ज में वृद्धि शून्य है! मतलब खुद भारतीय कारोबारी नया निवेश नहीं कर रहे- उन्हें सरकारी योजनाओं के ऐलान से मतलब नहीं क्योंकि अर्थव्यवस्था की ज़मीनी हालत पर उन्हें भरोसा नहीं है!

इसीलिये जीडीपी में स्थाई पूँजी निर्माण 17 हजार करोड़ घट गया है अर्थात नये पूँजी निवेश से पूँजीह्रास ('डिप्रीसीएशन') ज़्यादा है। असल में कोई भी पूँजीपति सरकार के नारों के असर में या किसी झोंक में आकर उद्योग नहीं लगाता। उद्योग लगाने का मकसद होता है अधिक से अधिक मुनाफा। अगर मुनाफे का भरोसा न हो तो किसी योजना/नारे की घोषणा से कुछ नहीं होता। इसीलिये प्रधानमंत्री मोदी की मेक इन इण्डिया, स्टार्टअप, स्टैण्ड अप, आदि सब योजनाएँ तो गयीं पानी में!

फ़िर **अगर अर्थव्यवस्था की तस्वीर इतनी ही चमकदार है तो उद्योगों द्वारा बैंकों से लिये गये कर्ज इतनी तेज़ी और भयंकर मात्रा में क्यों डूब रहे हैं? ऐसे संकटग्रस्त कर्ज की रकम 8 लाख करोड़ पर पहुँच चुकी है और 'मॉर्गन-स्टैनले' आदि विश्लेषक संस्थाओं के अनुसार 10 लाख करोड़ तक जाने की आशंका है।** अगर देश तरक्की कर रहा है, सबसे तेज़ अर्थव्यवस्था है, जनता के उपभोग में भारी वृद्धि हो रही है, बाजार में माँग बढ़ रही है, व्यवसाय तरक्की कर रहा है तो कॉर्पोरेट जगत लिये गये कर्ज को दबाकर क्यों बैठा है? यह बात सच है कि इसका एक हिस्सा तो पिछले व वर्तमान शासकों के संरक्षण में विजय मल्या या 'विनसम डायमण्ड' के जतिन मेहता जैसों के द्वारा की गयी सीधी धोखाधड़ी है जिनको स्वयं सरकारी एजेंसियों के संरक्षण में देश से भाग जाने का मौका दिया गया लेकिन यही पूरी सच्चाई नहीं। खुद रिजर्व बैंक के गवर्नर रघुराम राजन का कहना है कि इन डूबते कर्जों का मुख्य कारण धोखाधड़ी नहीं बल्कि 'अर्थव्यवस्था में गम्भीर सुस्ती' है! अब कौन सी बात पर विश्वास किया जाये – सबसे तेज़ बढ़ती अर्थव्यवस्था या गम्भीर सुस्ती की शिकार अर्थव्यवस्था?

खुद वित्तमंत्री अरूण जेटली 27 मई को 'इकॉनोमिक टाइम्स' में छपे अपने इंटरव्यू में कहते हैं कि 'हम माँग की अनुपस्थिति में मन्दी के वातावरण में संघर्ष कर रहे हैं और इसलिये क्षमता का विस्तार नहीं हो रहा है। जब अधिक माँग होती है तब ऐसा (क्षमता विस्तार) होता है और भारी मात्रा में रोज़गार सृजित होते हैं'। आह, कितना भी छिपाओ, सच बाहर आ ही जाता है!

अब हम इस को गौर से देखें कि जीडीपी में जो वृद्धि दिखाई दे भी रही है उसका स्रोत क्या है? वह क्या वास्तव में अर्थव्यवस्था के ढाँचे में किसी सुधार की तरफ इशारा करती है या कुछ और? ध्यान से देखें तो इस वृद्धि में मुख्य कारक हैं -एक तो तेज़ी से बढ़ते अप्रत्यक्ष कर ('सर्विस टैक्स', 'एक्साइज', 'वैट', आदि)– इस सरकार ने सिर्फ पेट्रोलियम पर ही 6 बार टैक्स बढ़ाया है। सर्विस टैक्स भी 2014 के 12.36% से बढ़कर अब क़रीब 15% हो गया है। इन करों के संग्रहण से 'सबसीडी' घटाकर होने वाली सरकारी आमदनी भी जीडीपी की वृद्धि के रूप में दर्ज की जाती है। लेकिन इसका अर्थव्यवस्था पर नकारात्मक असर ही पड़ता है क्योंकि ये टैक्स जनता की वास्तविक आमदनी अर्थात उसकी क्रय शक्ति को कम करते हैं और पहले से ही सिकुड़ती माँग से जूझ रही अर्थव्यवस्था में माँग को और कमज़ोर ही करेंगे।

जीडीपी मे दिखने वाली वृद्धि (निजी उपभोग) का दूसरा कारक है अर्थव्यवस्था में फुलाया जा रहा नया बुलबुला; जिसके 'अच्छे दिनों' की उम्मीद के प्रचार की चकाचौंध में मध्यम वर्ग का मोदी-भक्त हिस्सा फँस रहा है क्योंकि वह इसे हकीकत मान बैठा है! और बुलबुला फूटने पर यह तबका बिलबिलायेगा!

असलियत से अच्छी तरह वाकिफ़ पूँजीपति वर्ग तो न कर्ज ले रहा है न ही नया निवेश कर रहा है लेकिन अच्छे दिनों में आमदनी बढ़ने की उम्मीद लिये मध्यम वर्ग ने अभी से कर्ज लेकर खर्च करना शुरू कर दिया है। 2008 के वित्तीय संकट के बाद 'क्रेडिट कार्ड' पर लिया जाने वाला कर्ज बहुत घट गया था लेकिन अब फ़िर से 'क्रेडिट कार्ड' पर कर्ज 31% की सालाना दर से बढ़ रहा है जबकि 'इण्डस्ट्री' के कर्ज में इजाफा जीरो है। मोदी जी के 'अच्छे दिनों' की आस में क्रेडिट कार्ड या पर्सनल लोन लेकर खर्च करने वाला यह मध्यम वर्ग समझ नहीं पा रहा है कि यह कर्जा एक दिन वापस करना होगा - लेकिन रोज़गार विहीन वृद्धि के दौर में यह कर्ज वापस करने का पैसा आयेगा कहाँ से? 2008-09 के वित्तीय संकट के पिछले कड़वे तजुर्बे को अपने लालच में भूल रहे हैं ये!

आइये अब नौजवानों की रोज़गार की उम्मीदों की वास्तविक स्थिति पर नज़र डालते हैं। कुछ दिन पहले ही हमने खबर देखी थी कि कैसे हर वर्ष नये रोज़गार सृजन की दर कम हो रही है और **पिछले 8 वर्षों में वर्ष 2015 में अर्थव्यवस्था के आठ सबसे ज़्यादा रोज़गार देने वाले उद्योगों में सबसे कम केवल 1.35 लाख नये रोज़गार ही सृजित हुए।** बल्कि अगर सरकारी लेबर ब्यूरो के आँकड़ों को गौर से देखें तो **साल की दो तिमाहियों यानी अप्रैल-जून और अक्टूबर-दिसम्बर 2015 में क्रमशः 0.43 व 0.20 लाख रोज़गार**

कम हो गये!

कुछ लोग इसे सिर्फ़ मोदी नीत बीजेपी सरकार की नीतियों की असफलता बता कर रुक जा रहे हैं लेकिन हम और गौर से देखें तो यह इस या उस नेता, इस या उस पार्टी का सवाल नहीं है, असल में तो इस पूँजीवादी व्यवस्था के नेता-निरपेक्ष, पार्टी-निरपेक्ष मूल आर्थिक नियमों का नतीजा हैं। रिजर्व बैंक के एक अध्ययन पर आधारित यह विश्लेषण काबिल-ए-गौर है कि 1999-2000 में अगर जीडीपी 1% बढ़ती थी तो रोज़गार में भी 0.39% का इजाफा होता था। 2014-15 तक आते-आते स्थिति यह हो गई कि 1% जीडीपी बढ़ने से सिर्फ 0.15% रोज़गार बढ़ता है। मतलब जीडीपी बढ़ने, पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ने से अब लोगों को रोज़गार नहीं मिलता। इसलिए जब कॉर्पोरेट मीडिया अर्थव्यवस्था में तेज़ी-खुशहाली बताये तो भी उससे आम लोगों को खुश होने की कोई वजह नहीं बनती।

रोज़गार की हालत तो यह हो चुकी है कि साधारण विश्वविद्यालय-कॉलेजों से पढ़ने वालों को तो रोज़गार की मन्दी में अपनी औकात पहले से ही पता थी, लेकिन **अब तो आज तक 'सौभाग्य' के सातवें आसमान पर बैठे आईआईटी-आईआईएम वालों को भी बेरोज़गारी की आशंका सताने लगी है और इन्हें भी अब धरने-नारे की ज़रूरत महसूस होने लगी है क्योंकि मोदी जी के प्रिय 'स्टार्टअप' वाले उन्हें धोखा देने लगे हैं! 'फ्लिपकार्ट', 'एल एण्ड टी इन्फोटेक' जैसी कम्पनियों ने हज़ारों छात्रों को जो नौकरी के ऑफर दिये थे वे कागज के टुकड़े मात्र रह गये हैं क्योंकि अब उन्हें 'ज्वाइन' नहीं कराया जा रहा है!**

असल में देखें तो निजी सम्पत्ति और मुनाफे पर आधारित पूरी पूँजीवादी व्यवस्था ही असाध्य बीमारी की शिकार हो चुकी है; निजी मुनाफे-सम्पत्ति के लिये सामाजिक उत्पादन का अधिग्रहण करने वाली यह व्यवस्था आज की स्थिति में उत्पादन का और विस्तार नहीं कर सकती। कुल मिलाकर हम पूँजीवादी व्यवस्था के क्लासिक **'अति-उत्पादन'** के संकट को देख रहे हैं। इस अति-उत्पादन का अर्थ समाज की आवश्यकता से अधिक उत्पादन नहीं है बल्कि एक तरफ 90% जनता जरूरतें पूरी न होने से तबाह है दूसरी और आवश्यकता होते हुए भी क्रय-शक्ति के अभाव में ज़रूरत का सामान खरीदने में असमर्थ है। इसलिए बाज़ार में माँग नहीं है, उद्योग स्थापित क्षमता से काफ़ी कम (लगभग 70%) पर ही उत्पादन कर रहे हैं। अतः न पूँजीपति निवेश कर रहे हैं और न ही रोज़गार निर्माण हो रहा है। बल्कि पूँजीपति मालिक अपना मुनाफा बढ़ाने के लिये और भी कम मज़दूरों से और भी कम मज़दूरी में ज़्यादा से ज़्यादा काम और उत्पादन कराना चाहते हैं। इसलिये पिछले कुछ समय में देखिये तो आम श्रमिकों के ही नहीं अपने को **'व्हाइट कॉलर' मानने वाले अभिजात श्रमिकों के भी काम के घण्टों मे लगातार वृद्धि हो रही है।**

इस संकट से निकलने का कोई तरीका न पिछली मनमोहन सरकार के पास था न अबकी मोदी-जेटली की जोड़ी के पास और न ही बहुत से लोगों की उम्मीद 'आईएमएफ' वाले रघुराम राजन के पास क्योंकि आखिर इन सबकी नीतियाँ एक ही हैं - पूँजीपति वर्ग की सेवा! और सिर्फ़ ब्याज की दरें घटाने-बढ़ाने से बाजार माँग को नहीं बढ़ाया जा सकता, क्योंकि जिसकी जेब में पैसा है वही ब्याज के बारे में सोच सकता है ना भाई! यहाँ जनता की स्थिति यह है कि ग़रीब मज़दूर-किसानों की कंगाली की हालत तो हम पहले से ही जानते हैं लेकिन थोड़ी बेहतर हालत वाले मध्यम वर्गीय लोग जो अपने जीवन को सुधारने के लक्ष्य से कुछ बचत कर लेते थे; इनकी स्थिति भी अब ऐसी हो गयी है कि बैंकों में जमा होने वाले धन की वृद्धि दर घटकर पिछले 60 सालों में सबसे कम मात्र 9% रह गयी है! अर्थव्यवस्था की इस स्थिति में न नये उद्योग-धन्धे लगने वाले हैं न नये रोज़गार मिलने वाले हैं। **यही है 'अच्छे दिनों' की हकीकत; बाकी भाषण तो बस भाषण हैं उनका क्या! जुमलों से न तो जनता की ज़िन्दगी कभी बदली है और न ही कभी बदलेगी।** ●

सरकार कहती है कि हमने चूहे पकड़ने के लिए चुहेदानियाँ रखी हैं। एकाध चूहेदानी की हमने भी जाँच की। उसमें घुसने के छेद से बड़ा छेद पीछे से निकलने के लिए है, चूहा इधर फँसता है और उधर से निकल जाता है।
पिंजड़े बनाने वाले और चूहे पकड़ने वाले, चूहों से मिले हैं, वे इधर हमें पिंजड़ा दिखाते हैं और उधर चूहों को छेद दिखा देते हैं।
हमारे माथे पर सिर्फ़ चूहेदानी का खर्च चढ़ रहा है।

-हरिशंकर परसाई

विरासत

शहीद सुखदेव के जन्मदिवस के अवसर पर

● नवीन

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में 'सुखदेव' ऐसा नाम है जो न सिर्फ़ देशभक्ति बल्कि साहस और कुर्बानी का भी प्रतीक है। 23 मार्च 1931 के दिन सुखदेव को उनके दो क्रान्तिकारी साथियों भगतसिंह और राजगुरू के साथ फाँसी के तख्ते पर लटकाकर शहीद कर दिया था। शहादत के 85 साल बाद भी हमारे ये शहीद जनता के दिलों में अब भी ज़िन्दा हैं। भगतसिंह, राजगुरू और सुखदेव को अंग्रेजी सरकार ने 23 मार्च 1931 को लाहौर षड़यंत्र केस में फाँसी दी थी। इन वीरों को फाँसी की सजा देकर अंग्रेज सरकार इस मुगालते में थी कि हिन्दुस्तान की जनता इस कार्रवाई से डर जायेगी और स्वतंत्रता की भावना को भूलकर विद्रोह नहीं करेगी लेकिन उनके मंसूबों पर पानी फिर गया और इन शहीदों की कुर्बानी ने देश की जनता में आज़ादी के प्रति ऐसी भावना भर दी कि हज़ारों देशवासी सर पर कफ़न बाँधकर अंग्रेजी सत्ता के ख़िलाफ़ जंग में कूद पड़े।

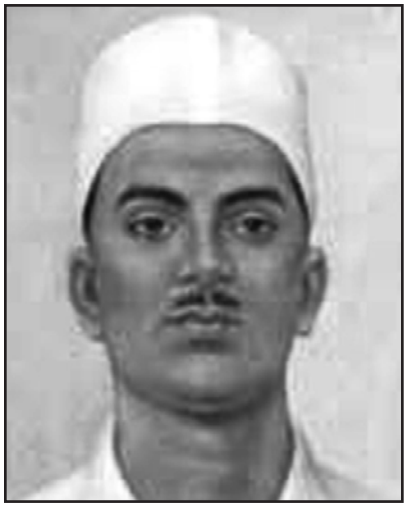

सुखदेव का जन्म 15 मई 1907 को लुधियाना में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री रामलाल और माता का नाम श्रीमती रल्ली देवी था। तीन वर्ष की आयु में ही पिता का साया सुखदेव के सर से उठ गया। इनका पालन-पोषण इनके ताऊ जी ने किया था। बचपन से ही अंग्रेजी सरकार के जुल्मों को सुखदेव ने देखा था जिसके चलते गुलामी से कराहती जनता को मुक्ति दिलाने के लिए वे क्रांतिकारी बन गये ।

सुखदेव बहुत ही हँसमुख, हाज़िरजवाब, ज़िन्दादिल और यारों के यार थे। ये सदैव अपने कॉमरेडों की ज़रूरतों का ख्याल रखते थे। गोरी हुकूमत से आज़ादी के लिए ये सदैव चिन्तित रहते थे। सुखदेव एच.आर.ए. (हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन) की दूसरी पीढ़ी तो एच. एस.आर.ए. (हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन) के पहली पीढ़ी के नेता थे। सुखदेव पार्टी के प्रति सदैव समर्पित रहे और उसूलों के लिए जान की बाजी लगाने में भी नहीं हिचकिचाये। 8 अप्रैल 1929 के दिन भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने 'पब्लिक सेफ़्टी बिल' और 'ट्रेड डिस्प्यूट बिल' नामक दो जनविरोधी काले कानूनों के ख़िलाफ़ और बहरी हुकूमत के कान खोलने के लिए संसद में बम धमाके किये थे। जब इस 'ऐक्शन' की योजना बन रही थी तो उस समय सुखदेव मौजूद नहीं थे और इस ऐक्शन में स्वयं जाने के लिए भगतसिंह ने चंद्रशेखर 'आज़ाद' (दल के कमाण्डर इन चीफ़) और अन्य साथियों को सहमत कर लिया था। जब सुखदेव को इस बात का पता चला तो वे भगतसिंह पर खूब बिगड़े। सुखदेव का कहना था कि संसद में बम धमाके का मतलब है सीधे फाँसी को गले लगाना और दल अभी इस स्थिति में नहीं है कि भगतसिंह की क्षति को झेल पाये। दोबारा बातचीत हुई और तब जाकर सुखदेव को मनाया जा सका कि अदालत में बातचीत रखने और अपने मुकदमे के माध्यम से प्रचार करने के काम के लिए भगतसिंह सर्वथा उपयुक्त हैं। यह तो विदित ही है कि मुकदमे के दौरान इन शहीदों ने अंग्रेजी अदालत को भी एक मंच के तौर पर इस्तेमाल किया। किन्तु इस किस्से से सुखदेव की संगठन/पार्टी के प्रति प्रतिबद्धता जाहिर होती है।

फाँसी से तीन दिन पहले पंजाब के गवर्नर को लिखे पत्र में सुखदेव, भगतसिंह और राजगुरू ने यह ऐलान कर दिया था - "युद्ध छिड़ा हुआ है यह लड़ाई तब तक चलती रहेगी जब तक कि शक्तिशाली व्यक्तियों ने भारतीय जनता और श्रमिकों की आय के साधनों पर अपना एकाधिकार कर रखा है। चाहे ऐसे व्यक्ति अंग्रेज पूँजीपति या सर्वथा भारतीय ही हों या दोनों मिले हुए .... इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

शहीद सुखदेव और उनके साथियों के सपनों का समतामूलक समाज बनना अभी बाकी है। इसके लिए मेहनतकश जनता व खासकर नौजवानों को आगे आना होगा। उनके जन्मदिवस पर यही उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि होगी। ●

समाज

'भारत माता की जय', अन्धराष्ट्रवाद और अभिव्यक्ति की अज़ादी की बहस से परे सत्ता के दमन की चपेट में - छत्तीसगढ़ की जनता!

● सिमरन

13 जून 2016 को बस्तर स्थित गोमपड गाँव में छत्तीसगढ़ पुलिस ने एक मुठभेड़ में मदकम हिड़मे नामक महिला को माओवादी आतंकी बताकर मार गिराने का दावा किया। छत्तीसगढ़ पुलिस का कहना है कि 13 जून 2016 को 25-30 माओवादियों ने गोमपड और गोरवा गाँव के बीच उनपर गोलीबारी की जिसके बाद सुरक्षाकर्मियों द्वारा की गयी जवाबी फायरिंग में मदकम हिड़मे की मृत्यु हो गयी जबकि बाकी माओवादी भाग निकलने में कामयाब हो गये। सोशल मीडिया पर मृत हिड़मे की तस्वीरों ने एक बार फिर थोड़े समय के लिए ही सही छत्तीसगढ़ में राज्य द्वारा हो रहे बर्बर दमन को उघाड़ दिया। हिड़मे की माँ और गाँव वालों का आरोप है कि पुलिस ने 12 जून को हिड़मे को उसके घर के पास से अगवा कर, उसकी हत्या करने के पश्चात उसका मृत, नग्न, उत्पीड़न के निशानों से भरा शरीर प्लास्टिक की शीट में लपेटकर उसके घर पहुँचा दिया। हिड़मे की माँ का यह भी कहना है कि उसकी हत्या से पहले उसके साथ बलात्कार भी किया गया। वहीं अपनी बहादुरी का ढोल पीट रही पुलिस काली माओवादी वर्दी में मृत हिड़मे की तस्वीरों से उसके माओवादी होने का दावा कर रही है। मगर एक नज़र उस फोटो पर डालते ही भानुमती के पिटारे की तरह पुसिस का "सच" बिखर जाता है और कई सवाल उठ खड़े होते हैं, जानलेवा मुठभेड़ के बावजूद हिड़मे की वर्दी एकदम साफ़ सुथरी थी, उसके शरीर में कई गोलियाँ लगने के बावजूद वर्दी में गोली लगने के कोई सुराख़ नहीं थे, उसके हाथ में पकड़ी राइफल भी माओवादियों द्वारा इस्तेमाल किये जाने वालें हथियारों में से नहीं थी। पर हिड़मे के साथ हुई घटना छत्तीसगढ़ के आदिवासियों के लिए कोई नयी बात नहीं है।

वहीं छत्तीसगढ़ से कई किलोमीटर दूर देश की राजधानी दिल्ली में पिछले कई महीनों से अन्धराष्ट्रवाद और "भारत माता की जय", "गौ माता" का शोर मचा हुआ है जिसके नीचे छत्तीसगढ़ में मानवाधिकारों के नंगे हनन और आदिवासियों पर किये जा रहे अत्याचारों की आवाज़ दब जाती है। भारत के मौजूदा हालात की तुलना आज कल बौद्धिक गालियारों में आपातकाल ('इमरजेंसी') के दौर से की जा रही है पर बस्तर, दन्तेवाड़ा, बीजापुर और छत्तीसगढ़ के तमाम क्षेत्रों के लिए तो आपातकाल कभी ख़त्म ही नहीं हुआ! बन्दूक की नोक के नीचे ज़िन्दगी जीने को मजबूर आज़ाद भारत के ये वो नागरिक हैं जिनको न तो कोई जनवादी अधिकार हासिल है न मानवाधिकार। 'सी.एस.पी. एस.ए.' ('छत्तीसगढ़ स्पेशल पब्लिक सिक्यूरिटी एक्ट 2005') के नाम पर पुलिस किसी भी व्यक्ति को माओवादी होने या उनके समर्थक होने के शक की बिनाह पर गिरफ़्तार कर सकती है और जेल में डाल सकती है। छत्तीसगढ़ किसी युद्धक्षेत्र से किसी मामले में अलग नहीं है। 'डिजिटल इण्डिया', 'स्किल इण्डिया' की हकीकत यह है कि छत्तीसगढ़ की बहुसंख्यक आबादी बिना बिज़ली के अपना जीवन जी रही है, स्कूलों को सीआरपीएफ कैम्पों में तब्दील किया जा चुका है और चिकित्सा के स्तर का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि हर साल बारिश के मौसम में हैजा और डायरिया फैलने के कारण कई सौ लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। फर्जी मुठभेड़ों में मासूम गाँव वालों की हत्या कर उन्हें माओवादी घोषित कर दिया जाता है, महिलाओं के साथ जघन्य अपराध किये जाते है, गाँव के गाँव तबाह कर वहाँ रहने वालों को विस्थापित कर शरणार्थी कैम्पों में धकेल दिया जाता

है और ऐसे निर्मम क्रूर अपराध अंजाम दिए जाते है जिन्हें सुन कर किसी की भी रूह काँप उठे। लेकिन ऐसी कोई भी घटना राष्ट्रीय बहस का मुद्दा नहीं बनती, हाँ जो बात की जाती है वो है नक्सलवादियों के जड़ से खात्मे के लिए कड़े से कड़े कदम उठाने की जिनसे "राष्ट्र" को बहुत खतरा है! मगर एक सवाल जिसका जवाब न तो टी.वी. पर गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने वाले 'न्यूज़ एंकर' देते हैं और न ही खुद को छाती पीट-पीट कर भारत माता के सपूत कहने वाले देशभक्त नेतागण देते हैं वह यह है कि आखिर जिस राष्ट्र को इन सभी "राष्ट्रविरोधी" ताकतों से बचाने की बात वो कर रहे हैं उस 'राष्ट्र' की परिभाषा क्या है? क्या उस राष्ट्र में छत्तीसगढ़ की जनता शामिल है? क्या कश्मीर की जनता की आवाज़ का कुछ अर्थ है? क्या उत्तर-पूर्व की जनता के हक़ अधिकार उस "राष्ट्र" के लिए कोई मतलब रखते हैं? क्या देश बिना उसमें रहने वाले लोगों के कागज़ पर बना कोई नक्शा है? छत्तीसगढ़, कश्मीर, उत्तर-पूर्व और अन्य जगहों पर जिन महिलाओं के साथ बलात्कार किये जाते हैं उनकी पीड़ा और आवाज़ इस आततायी राष्ट्र में कहाँ हैं? क्या उनमें इन 'देशभक्तों' को भारत माता नहीं दिखती? इस पूरी बहस से ये सब सवाल गायब रहते हैं, बस जो सुनने या देखने को मिलते हैं वे हैं जुमले और अफवाहें! हर दिन एक नया छद्म शत्रु गढ़कर हमारे सामने पेश कर दिया जाता है। अपनी बदहाल ज़िन्दगी, महँगाई, बेरोज़गारी, भुखमरी, कुपोषण, बिमारियों- इन सब परेशानियों से त्रस्त जनता की मुश्किलें हल करने के बजाय उनका ध्यान इन मुद्दों के मूल कारणों से भटकाने और उनके गुस्से को शान्त करने के लिए उनके सामने एक छद्म शत्रु खड़ा कर दिया जाता है। मगर राज्य द्वारा प्रायोजित अत्याचारों और आतंक के बारे में एक शब्द नहीं कहा जाता। पुलिस और सेना को गौ माता का दर्जा दे दिया जाता है जिनके ख़िलाफ़ एक शब्द भी सुनना गवारा नहीं समझा जाता।

छत्तीसगढ़ के विवाद के अध्ययन से एक बात को बहुत अच्छे से समझा जा सकता है कि पूँजीवादी राज्यसत्ता पूँजीवाद की ख़िदमत में हमेशा नतमस्तक रहती है। छत्तीसगढ़ का विवाद सिर्फ नक्सलियों और सरकार के बीच की लड़ाई नहीं है बल्कि पूँजीवाद द्वारा प्राकृतिक संसाधनों की लूट की अन्धी हवस का नतीजा है जिसमें सबसे ज़्यादा नुकसान वहाँ रहने वाले आदिवासियों को पहुँचा है। उनसे न केवल उनके घर, उनकी ज़मीन छीनी गयी बल्कि इंसानों की तरह ज़िन्दगी जीने का हक़ भी छीन लिया गया। आज फासीवादी उभार के दौर में जहाँ पूरे देश में सत्ता मेहनतकशों और आम जनता पर कहर बरपा रही है वहाँ पहले से ही युद्धक्षेत्र बने छत्तीसगढ़ में उसने और भी क्रूर और निर्मम रूप अख्तियार कर लिया है। छत्तीसगढ़ में राज्य द्वारा प्रायोजित दमन का यह दूसरा चक्र है जो पहले चक्र के मुकाबले पूँजीवाद की आज की ज़रूरतों को देखते हुए अधिक प्रचण्ड है। इसका अन्दाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि अब सरकार अपने ही नागरिक इलाकों पर वायु सेना द्वारा बमबारी करवाने की तैयारी कर रही है। छत्तीसगढ़ के ऐसे इलाके जिन्हें माओवादियों का गढ़ माना जाता है उन्हें "मुक्त क्षेत्र" (जनता और माओवादियों दोंनो से मुक्त ताकि बड़ी कम्पनियाँ वहाँ खनन करवा सकें) बनाने के लिए अब ज़ायनवादी इज़रायल के जहाजों का इस्तेमाल किये जाने की योजना है।

छत्तीसगढ़ में हाल में घटित हो रही घटनाओं को फासीवादी उभार से जोड़ कर न देखना एक बहुत बड़ी भूल होगी। छत्तीसगढ़ बहुमूल्य खनिजों से भरपूर है। 'डायेलेक्टिकल एन्थ्रोपोल' नामक अनुसन्धान पत्रिका में छपे एक लेख के मुताबिक अकेले दन्तेवाड़ा में ही 2009 में 80 बिलियन अमरीकी डॉलर के कच्चे लोहे के भण्डार हैं। छत्तीसगढ़ में टाटा स्टील और एस्सार स्टील (जिसके राजनितिक-आर्थिक घोटाले का खुलासा अभी हाल ही में सामने आया है) सरीखे बड़े पूँजीपति घरानों की गिद्ध जैसी नज़र पिछले कई दशकों से वहाँ हो रहे नरसंहार के लिए ज़िम्मेदार है। टाटा स्टील ने छत्तीसगढ़ की सरकार के साथ कई करारनामे किये हैं। एस्सार भी खनिजों की लूट और आदिवासियों के उत्पीड़न के लिए कम ज़िम्मेदार नहीं है। पूँजीपतियों के लिए आदिवासी कीड़े-मकोड़ों की तरह हैं जिन्हें वहाँ से खदेड़ने के लिए वो कोई भी कीमत चुकाने को तैयार हैं ताकि वे बेरोक-टोक खनिजों की लूट से मुनाफ़ा पीट सकें और पूँजीवाद की गाड़ी की मन्द होती गति को बढ़ा सकें।

'सलवा जुडूम', 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' यह सब उन अलग-अलग हथकण्डों के नाम है जिनकी आड़ में माओवादियों का खात्मा करने की बात कहते हुए सुनियोजित तरीके से आदिवासियों को उनके गाँवों से विस्थापित कर अपने ही देश में शरणार्थियों की तरह शिविरों में भर दिया गया है। 'आई.डी.पी. कैम्प' ('इण्टरनली डिसप्लेस्ड पीपल कैम्प') यातना शिविरों से अलग नहीं हैं। ऐसा इसीलिए किया जाता है ताकि बेरोक-टोक खनन का काम किया जा सके। 'सी.आर.पी.एफ.' के जवानों के पहरे में जीना आतंक में जीने के सामान है। इन कैम्पों से निकलना जेल से भागने जैसा मुश्किल है, अगर कोई इन कैम्पों से निकल बाहर चला भी जाता है तो उसे माओवादी करार देकर मार दिया जाता है। बन्दूक की नोक पर आदिवासियों की ज़मीनें कौड़ियों के मोल हथियाने में जहाँ पूँजीपति कामयाब नहीं होते वहाँ पूरे के पूरे गाँव माओवादियों के गढ़ कहकर फूँक दिये जाते हैं। यह मामला बदस्तूर कई दशकों से जारी है फिर चाहे कांग्रेस की सरकार हो या भाजपा की। 2010 में तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने सम्पादकों के एक समूह को सम्बोधित करते हुए कहा था कि "नक्सलवादी इलाके भारत के खनिजों की सम्पदा के रिज़र्व है... अगर हम इस देश के खनिज

संसाधनों का लाभ नहीं उठा पाये तो इस देश के विकास पर बुरा असर पड़ेगा।" मगर प्रधानमंत्री जी यह बताना भूल गये कि वे किस के विकास की बात फ़रमा रहे थे। बहरहाल यह तो साफ़ है कि वे छत्तीसगढ़ के लोगों के विकास की बात तो बिल्कुल नहीं कर रहे थे। छत्तीसगढ़ में विकास के नाम पर सड़कें मौजूद हैं और वो भी सिर्फ़ इसलिए ताकि खदानों से निकाला गया खनिज फैक्टरियों तक पहुँचाया जा सके।

2005 में नक्सलवादियों से लड़ने के लिए कांग्रेस के महेंद्र कर्मा ने सलवा जुडूम को जन्म दिया था। स्थानीय जनता का नक्सली आतंक के विरुद्ध विद्रोह का नकाब ओढ़े वास्तव में सलवा जुडूम आदिवासियों की ज़मीन हड़पने वाला माफ़िया था जिसे खुद सरकार 'फण्ड' कर रही थी। सलवा जुडूम में स्थानीय लोगों को पुलिस में नौकरी और बेहतर ज़िन्दगी देने के सपने दिखाकर अपने ही लोगों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया गया। सलवा जुडूम के सदस्यों को स्पेशल पुलिस ऑफिसर ('एस.पी.ओ.') कहा जाता था। जहाँ कांग्रेस के पी. चिदम्बरम ने 'एस.पी.ओ.' की तारीफ़ करते हुए भारत में जहाँ ज़रूरत हो वहाँ ऐसे समूहों के संगठन की पैरवी की वहीं भाजपा के रमण सिंह ने सलवा जुडूम को नक्सलवाद से मुक्ति के लिए ज़रूरी बताया। सलवा जुडूम गाँवों में घुसकर न सिर्फ़ आदिवासियों को अपनी ज़मीनें 'स्टील कम्पनियों' को बेच देने के लिए डराते-धमकाते थे बल्कि महिलाओं के साथ बलात्कार और लूट जैसे अपराधों को भी अंजाम देते थे। लेकिन राज्य और पुलिस की शह के कारण उनके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की जाती थी। साल 2011 में भारत के उच्चतम न्यायालय ने सलवा जुडूम को गैर कानूनी और असंवैधानिक घोषित कर दिया। लेकिन इसके बावजूद छत्तीसगढ़ के हालात में कोई तब्दीली नहीं आई। 2009 में केंद्रीय गृह मंत्रालय ने 7 राज्यों (आन्ध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, बिहार, ओड़िसा, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल) की पुलिस और सेना की मदद से छत्तीसगढ़ में 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' की शुरुआत की जिसके तहत नक्सली इलाकों में खोजी दस्ते भेज कर नक्सलियों का सफ़ाया किया जाना था। 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट और 'सी.एस.पी.एस.ए.' के नाम पर हज़ारों मासूमों को मौत के घाट उतार दिया गया और उससे भी ज़्यादा को जेलों में भर कर यातनाएँ दी गयीं।

लेकिन आज के दमन के दूसरे चक्र में जहाँ मुख्यधारा का मीडिया अपने हकों के लिए सड़कों पर उतरी बेंगलुरु की कपड़ा मील की औरतों तक को राष्ट्र के विकास को अवरुद्ध करने का दोषी ठहरा देता है, लगातार बमबारी की तरह आम जनता में अन्धराष्ट्रभक्ति की भावना को हवा देते हुए हर ज़रूरी, अलबत्ता राज्य के लिए मुश्किल खड़ी कर देने वाले, सवालों को फ़र्जी देशभक्ति के पीछे छिपा देना चाहता है। यहाँ राज्य के लिए जनपक्षधर आवाज़ें उसकी सबसे बड़ी शत्रु हैं। छत्तीसगढ़ के दहशत के माहौल में कुछ ऐसी आवाजें भी है जिन्होंने बाकी दुनिया के सामने छत्तीसगढ़ में हो रहे खूनी खेल का पर्दाफाश करने की हिम्मत दिखयी। अनेक जनपक्षधर पत्रकारों ने छत्तीसगढ़ की असलियत को अपनी कलम से आवाज़ देने का काम किया। मगर सरकार को उनका ऐसा करना नागवार गुज़रा। 2015 में ही हिन्दी के दो पत्रकारों समारू नाग और सन्तोष यादव पर जुलाई और सितम्बर 'सी.एस.पी.एस.ए.' लगाकर गिरफ़्तार कर जगदलपुर जेल में डाल दिया गया। उनका गुनाह बस इतना था कि उन्होंने राज्य द्वारा जनता पर हो रहे अत्याचारों के बारे में लिखने की जुर्रत की। इससे पहले पत्रकार और शोधकर्ता बेला भाटिया और 'बी.बी.सी.' के अलोक पुतुल को भी पुलिस के दबाव और लगातार मिलती धमकियों के चलते छत्तीसगढ़ छोड़ना पड़ा था। 'सामाजिक एकता मंच' ने ऑनलाइन पत्रिका 'स्क्रॉल' के लिए छत्तीसगढ़ से लिखने वाली पत्रकार मालिनी सुब्रमनियम को भी छत्तीसगढ़ छोड़ने पर मजबूर कर दिया। नाम से कहीं धोखा खा जायें तो इसलिए बताते चलें 'सामाजिक एकता मंच' दरअसल सलवा जुडूम का ही एक "सौम्य" संस्करण है जो जनवादी हकों की लड़ाई के लिए आवाज़ उठाने वाले लोगों के ख़िलाफ़ काम करता है। अभी हाल ही में 'जगदलपुर लीगल ऐड ग्रुप' ('जगलग'), जिसे शालिनी गेरा और ईशा खण्डेलवाल सहित कई और जनपक्षधर महिला वकीलों का एक समूह चला रहा था, को सामाजिक एकता मंच के आतंक के चलते बस्तर छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। सामाजिक एकता मंच से जुड़े लोगों और पुलिस ने 'जगलग' दफ़्तर के मकान मालिक तक को जा कर धमकाया कि अगर उसने अपना मकान इन औरतों से खाली नहीं करवाया तो अंजाम बेहद बुरा होगा। 'जगलग' छत्तीसगढ़ के उन ग़रीब और प्रताड़ित नागरिकों को इन्साफ़ दिलाने का काम कर रहा था जिन्हें पुलिस ने बिना किसी ठोस सबूत के सालों तक जेल में बन्द रखा और उनके साथ मार-पीट की। अनपढ़ और गरीब आदिवासियों के लिए जो एक रौशनी की किरण यह महिलाएँ थीं वो भी इनसे छीन ली गयी। दन्तेवाड़ा में 'वनवासी चेतना आश्रम' चलाने वाले हिमांशु कुमार के आश्रम पर बुल्डोज़र चढ़ा दिया गया। 'पी.यू.सी.एल.' के डॉ. बिनायक सेन जिन्हें राजद्रोह के आरोप में 2007 में गिरफ़्तार किया गया था जो छत्तीसगढ़ की ग़रीब और शोषित जनता तक चिकित्सा पहुँचाने का काम कर रहे थे। किसी भी जनपक्षधर आवाज़ को दबाने की छत्तीसगढ़ राज्य की 'मोडस ऑपरेण्डी' बिल्कुल एक जैसी है या तो उन्हें धमकियों से डराओ, उनके मकान मालिकों को धमकाने से लेकर उनके घर पर पुलिसिया रेड जिसके बाद कुछ पर्चे 'प्लाण्ट' कर उन्हें माओवादी घोषित कर जेल में डाल दिया जाता है।... **(पेज 54 पर जारी)**

सृजन-सैद्धान्तिकी

लोकप्रियता और यथार्थवाद

● बेर्टोल्ट ब्रेष्ट (1938)

कोई भी जो समकालीन जर्मन साहित्य में नारों को प्रयोग में लाना चाहता है, उसे अपने दिमाग़ में यह अवश्य रखना चाहिए कि जिसे भी साहित्य कहा जा सकता है, वह केवल व्यापक अर्थ रखता है, और केवल अपने व्यापक अर्थों में ही समझा जा सकता है। इस प्रकार 'लोकप्रिय' पद जिस रूप में साहित्य में प्रयुक्त हो रहा है, उससे यह एक विचित्र संकेतार्थ ग्रहण कर लेता है। इस सूरत में, लेखक से उन लोगों के लिए लिखने की उम्मीद की जाती है जिनके बीच वह नहीं रहता है। फ़िर भी यदि कोई इस मामले पर अधिक गहराई से विचार करे तो वह पायेगा कि लेखक और जनता के बीच का यह अन्तर इतना विशाल नहीं है, जितना कि इसे कोई सोचता है। आज यह अन्तर इतना विशाल नहीं है जितना कि यह प्रतीत होता है, और पहले यह उतना न्यून नहीं था जितना कि प्रतीत होता था। प्रचलित सौन्दर्यशास्त्र, पुस्तकों का मूल्य और सेंसर व्यवस्था ने लेखक और लोगों के बीच हमेशा ही एक विचारणीय दूरी सुनिश्चित की है। फ़िर भी इस दूरी के बढ़ने को पूरी तरह से "बाह्य कारक" के रूप में देखना गलत होगा- अर्थात अयथार्थपरक होगा। निःसंदेह आज लोकप्रिय शैली में लिखने के योग्य होने के लिए विशेष प्रयास करने होंगे। दूसरी तरफ यह ज़्यादा आसान हो गया है– ज़्यादा आसान और ज़्यादा ज़रूरी।

जनता ऊपरी तबकों से ज़्यादा स्पष्टता के साथ दूर हुई है; उसके उत्पीड़क और शोषक खुले तौर पर सामने आ गये हैं तथा उसके ख़िलाफ़ व्यापक पैमाने के भयंकर खूनी युद्ध में संलग्न हैं। पक्ष लेना आसान हो गया है। कहा जा सकता है कि "जनता" के बीच खुली लड़ाई छिड़ चुकी है।

आज यथार्थवादी शैली में लेखन की माँग को और अधिक लम्बे समय तक आसानी से टाला नहीं जा सकता। इसने एक हद तक अपरिहार्यता ग्रहण कर ली है। शासक वर्ग पहले के मुक़ाबले प्रायः ज़्यादा और बड़े झूठ बोल रहा है। सच्चाई बताना, स्पष्टतः पहले से कहीं ज़्यादा ज़रूरी काम हो गया है। पीड़ा और इसके साथ पीड़ितों की संख्या भी पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ चुकी है। जनता की अपार पीड़ा को दृष्टि में रखते हुए, छोटी-मोटी कठिनाइयों या कुछ छोटे से समूहों की कठिनाइयों की चिन्ता हास्यास्पद और घिनौनी महसूस की जाने लगी है।

उभरती हुई बर्बरता के ख़िलाफ़ हमारी केवल एक मित्र है – जनता, जो कि इससे अत्यधिक पीड़ित है। सिर्फ़ वही (जनता) है जिससे कोई भी उम्मीद की जा सकती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि जनता की तरफ रुख किया जाना चाहिए, और अब यह पहले से ज़्यादा ज़रूरी है कि उसकी (जनता) भाषा में बात की जाय। इस प्रकार लोकप्रिय कला और यथार्थवाद स्वाभाविक मित्र बन जाते हैं। यह जनता – विशाल मेहनतकश लोगों – के हित में है कि उन्हें साहित्य से जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब प्राप्त हो, और जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब वास्तव में केवल जनता- व्यापक मेहनतकश – की सेवा करता है, और इसीलिए निश्चितरूप से यह उसके लिए बोधगम्य और लाभदायक - दूसरे शब्दों में लोकप्रिय – होनी चाहिए। फ़िर भी इन धारणाओं को प्रयोग करने या मिलाने का प्रस्ताव रखने से पहले इन्हें गम्भीरता से परिमार्जित किया जाना चाहिए। ऐसा सोचना एक भूल होगी कि ये धारणाएँ पूर्णत: पारदर्शी, इतिहास-रहित, अटल या असन्दिग्ध हैं। (हम सभी जानते हैं कि इनका क्या मतलब है – बाल की खाल न निकाली जाय)। लोकप्रियता की धारणा स्वयं विशेष तौर पर लोकप्रिय नहीं है। यह विश्वास करना यथार्थपरक नहीं है कि यह है। भाववाचक संज्ञाओं - जिनका अन्त "ता" में होता है – की एक पूरी श्रृंखला है, जिसको सावधानीपूर्वक परखा जाना चाहिए। उपयोगिता, सम्प्रभुता और शुचिता के बारे में सोचिये; और हम जानते हैं कि राष्ट्रीयता की धारणा काफी विशिष्ट, सांस्कारिक, गर्वित और सन्देहजनक संकेतार्थ रखती है जिनको हमें नज़रअन्दाज़ करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए। सिर्फ इसलिए कि हमें लोकप्रियता के विचार/धारणा की ज़रूरत है, हमें इन संकेतार्थों को नज़रअन्दाज़ नहीं करना चाहिए।

ये तथाकथित काव्य रूप ही हैं जिनमें "जनता" को रूढ़िवादी तरीके से प्रस्तुत किया जाता है, या यों कहें कि इस तरह से प्रस्तुत किया जाता है जो रूढ़िवादिता को प्रोत्साहित करता है। वे जनता को अपरिवर्तनीय गुणों, पवित्र परम्पराओं, कलारूपों, आदतों और रिवाजों, धार्मिकता, वंशानुगत शत्रुओं, अजेय शक्ति इत्यादि का रूप प्रदान करते हैं। उत्पीड़ित और उत्पीड़क, शोषित और शोषक, ठगों और जिनको ठगा गया है के बीच एक उल्लेखनीय एकता दिखाई देती है; किसी भी सूरत में यह "तुच्छ" मेहनतकश लोगों और उनके उपर बैठे लोगों के बीच के विरोध का प्रश्न नहीं रह जाता है।

"जनता" की इस धारणा के साथ जो धोखाधड़ी की गयी है, उसका इतिहास लम्बा और जटिल है- वह वर्ग-संघर्षों का इतिहास है। हम यहाँ इस विषय में नहीं जाना चाहते— हम यहाँ केवल धोखाधड़ी के तथ्य को निगाह के सामने रखने के इच्छुक हैं, जब हम यह कहते हैं कि हमें एक लोकप्रिय कला की ज़रूरत है तो उससे हमारा मतलब होता है – व्यापक जनता के लिए कला, उन बहुत से लोगों के लिए जिन्हें चन्द लोगों द्वारा दबाया गया है – स्वयं जनता – उत्पादक जनता, जो अब तक राजनीति के लिए एक वस्तु थी जिसे अब राजनीति का कर्त्ता बन जाना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि लोगों को शक्तिशाली संस्थाओं द्वारा, परिपाटियों द्वारा कृत्रिम तरीके से व बलपूर्वक प्रतिबन्धित करके पूर्ण रूप से विकसित होने से रोका गया है और यह कि लोकप्रिय की धारणा पर अनैतिहासिक, स्थिर व अविकासशीलता का ठप्पा लगा दिया गया है। हम लोकप्रियता के ऐसे विचार से सरोकार नहीं रखते– उल्टे हमें इससे लड़ना होगा।

लोकप्रिय की हमारी धारणा उन लोगों से सम्बन्धित है जो न केवल ऐतिहासिक विकास में पूरी भागीदारी करते हैं बल्कि सक्रियता पूर्वक उसपर अधिकार कर लेते हैं, उसकी गति को बल देते हैं और उसकी दिशा निर्धारित करते हैं। हमारे दिमाग़ में वह जनता है जो इतिहास बनाती है, दुनिया को बदलती है और खुद को भी। हमारे मस्तिष्क में संघर्षरत लोग हैं और इसीलिए लोकप्रिय की एक जुझारू धारणा है।

लोकप्रिय का अर्थ है- व्यापक जनता के लिए बोधगम्य, उनके अभिव्यक्ति के रूपों को अभिग्रहण करना और उसे समृद्ध करना, उनके पक्ष को समझना, उसे प्रमाणिक करना और उसमें सुधार करना, जनता के सबसे प्रगतिशील हिस्से का प्रतिनिधित्व करना ताकि वह नेतृत्व ग्रहण कर सके, और इसीलिए जनता के दूसरे हिस्से के लिए भी बोधगम्य हो सके, परम्पराओं से सम्बन्धित करना और उन्हें विकसित करना। राष्ट्र के वर्तमान शासक वर्गों की "उपलब्धियों" को जनता के उस हिस्से तक ले जाना जो नेतृत्व के लिए प्रयासरत हैं।

अब हम यथार्थवाद की धारणा को लेते हैं। इस संकल्पना ('कॉन्सेप्ट') को भी प्रयोग से पहले परिमार्जित किये जाने की ज़रूरत है क्योंकि यह एक पुरानी संकल्पना है और बहुतों द्वारा इसे बहुत से उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया गया है। यह ज़रूरी है क्योंकि लोग अपनी सांस्कृतिक विरासत को केवल स्वामित्वहरण द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। साहित्यिक रचनाओं का अभिग्रहण फैक्ट्रियों की तरह नहीं किया जा सकता; अभिव्यक्ति के साहित्यिक रूप 'पेटेण्ट' की तरह अभिग्रहित नहीं किये जा सकते। यहाँ तक कि लेखन के यथार्थवादी तरीके – जिसके साहित्य ने बहुतेरे भिन्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं- में भी उसे कब, किस तरह और किस वर्ग के द्वारा इस्तेमाल किया गया है, इसके सूक्ष्मतम ब्योरों के निशान देखे जा सकते हैं। जबकि जनता हमारी आँखों के सामने संघर्षरत है और यथार्थ को बदल रही है, तब हमें कथा (कथावस्तु या कथा-रूपों) के "आज़माये" नियमों, पूज्य साहित्यिक नमूनों, शाश्वत सौन्दर्यशास्त्रीय नियमों के साथ चिपकना नहीं चाहिए। हमें यथार्थवाद को मौजूदा विशिष्ट रचनाओं से यथावत व्युत्पन्न नहीं करना चाहिए बल्कि हमें प्रत्येक साधन का प्रयोग करना होगा- पुराना और नया, आज़माया और बिना आज़माया, कला से व्युत्पन्न और अन्य स्रोतों से व्युत्पन्न – ताकि यथार्थ को लोगों के लिए इस रूप में प्रस्तुत किया जा सके जिसमें (जिस कला रूप में) वे महारत हासिल कर सकें। हमें ध्यान रखना होगा कि किसी विशेष कालखण्ड के उपन्यास के किसी एक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप को यथार्थवादी उपन्यास के रूप में वर्णित न किया जाय –जैसे की बाल्ज़ाक या तोल्स्तोय के उपन्यास – जिससे कि यथार्थवाद के औपचारिक शाब्दिक मानदण्ड न खड़े हों। हमें इस तरह से नहीं कहना चाहिए कि यथार्थवादी लेखन केवल तब होगा जब हम प्रत्येक चीज़ को सूंघ सकें, चख सकें और महसूस कर सकें, जब "वातावरण" हो और कथानकों को इस तरह से बनाया जाय कि वे पात्रों के मनोविश्लेषण की तरफ़ ले जायें। हमारे यथार्थवाद की संकल्पना व्यापक और राजनीतिक – सभी रीति-नीतियों से सार्वभौम – होनी चाहिए।

यथार्थवाद का अर्थ है समाज के भीतर कार्य-कारण सम्बन्धों के समूहों का अनावरण करना/ चीजों के बारे में प्रचलित दृष्टिकोण जो कि सत्ताधारी वर्ग का दृष्टिकोण है - को बेनकाब करना/ उस वर्ग के दृष्टिकोण से लिखना जो कि उन गम्भीर समस्याओं का जिससे मानव समाज ग्रसित है का वृहत्तम समाधान प्रस्तुत करता है/ या विकास के तत्वों पर बल देना/ मूर्त को सम्भव बनाना और इससे अमूर्तन को सम्भव बनाना।

ये व्यापक नियम हैं और इन्हें विस्तारित किया जा सकता है। इसके अत्तिरिक्त इन नियमों का पालन करते हुए हमें कलाकार को उसकी ललित कल्पना, उसकी मौलिकता,

उसके हास्य एवं उसकी खोजों को प्रयोग करने की इजाज़त देनी चाहिए। हमें अत्यधिक ब्यौरेवार साहित्यिक नमूनों से नहीं चिपकना चाहिए। हमें कलाकार को अति अनमनीय तरीके से पारिभाषित कथा-रूपों से बाँधना नहीं चाहिए।

हमें यह स्थापित करना होगा कि लेखन के तथाकथित भावात्मक (एन्द्रिक) तरीके- जहाँ कोई सूंघ सके, चख सके और प्रत्येक चीज़ को महसूस कर सके- को लेखन के यथार्थवादी रूप के साथ स्वतः जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए; हमें यह स्वीकार करना होगा कि ऐसी रचनाएँ हैं जो कि भावात्मक (ऐन्द्रिक) रूप में लिखी गयी हैं परन्तु यथार्थवादी नहीं हैं; और ऐसी यथार्थवादी रचनाएँ हैं जो कि भावात्मक (ऐन्द्रिक) शैली में नहीं लिखी गयी हैं। हमें ध्यानपूर्वक इस प्रश्न को जाँचना होगा कि क्या हम तभी वास्तव में एक उत्तम कथानक विकसित करते हैं जब हमारा सर्वोच्च उद्देश्य पात्रों के आत्मिक जीवन को प्रकट करना हो। हमारे पाठक अगर विभिन्न साहित्यिक युक्तियों से गुमराह किये जाने के कारण केवल नायकों के आत्मिक उद्गार ही महसूस करते हैं तो उन्हें शायद पता चले कि घटनाओं के अर्थों को समझने की कुंजी उन्हें नहीं दी गयी है। व्यापक रूप से परीक्षण किये बिना बाल्ज़ाक और तोल्स्तोय के रचनात्मक रूप को अपना लेने से हम अपने पाठक – जनता – को उतना ही उबा देंगें, जितना कि ये लेखक भी प्रायः करते हैं। यथार्थवाद रूप मात्र का प्रश्न नहीं है, यदि हम इन यथार्थवादियों की शैली की नकल करेंगे तो हम यथार्थवादी नहीं होंगे।

समय प्रवाहमान है, और अगर ऐसा नहीं होता तो उनके लिए बहुत बुरा होता जो मुँह में चांदी का चम्मच लेकर पैदा नहीं हुये हैं। तरीके चूक जाते हैं, उद्दीपन काम नहीं करते। नयी समस्याएँ पैदा होती हैं और नयी विधियों की माँग करती हैं। यथार्थ बदलता है; इसको पेश करने के लिए प्रस्तुति का तरीका भी बदलना चाहिए। शून्य से कुछ पैदा नहीं होता, नया पुराने से पैदा होता है, और केवल इसी कारण यह नया है। दमनकर्ता प्रत्येक युग में समान तरीके से काम नहीं करते। उन्हें हमेशा एक ही तरीके से परिभाषित नहीं किया जा सकता। उनके पास पकड़े जाने से बचने के लिए बहुत से साधन हैं। वे अपने सैन्य मार्गों को यातायात मार्ग कहते हैं, उनके टैंक इस प्रकार से रँगे है कि वे मैकडफ के जंगल (विलियम शेक्सपीयर के नाटक मैकबेथ में मैकडफ की सेना पेड़ों की शाखाओं के पीछे छिपकर मैकबेथ को घेरती है) जैसे दिखते हैं। उनके एजेण्ट फफोले भरे अपने हाथ दिखाते हैं मानों कि वे मजदूर थे। नहीं, शिकारी को शिकार में बदलना आविष्कार की माँग करता है। जो कल लोकप्रिय था आज नहीं है क्योंकि लोग आज वे नहीं हैं जो कि वे कल थे।

कोई भी जो रूपवादी पूर्वाग्रह का शिकार नहीं है जानता है कि सत्य को कई तरीकों से दबाया जा सकता है और वह कई तरीकों से अभिव्यक्त होना चाहिए। [...]

मैं यह अनुभव से कह रहा हूँ कि सर्वहारा के लिए साहसपूर्ण और असाधारण चीजों को रचने के लिए डरने की ज़रूरत नहीं है, जब तक कि ये उसकी वास्तविक परिस्थितियों से सम्बन्धित होती हैं। सुसंस्कृत लोग व कला के कद्रदान हमेशा ही होंगे जो टोकेंगे- "साधारण जनता इसे नहीं समझती"; लेकिन साधारण जनता व्याकुलता से उन्हें किनारे धकेल देगी और कलाकारों के साथ सीधे तारतम्य स्थापित कर लेगी। कुछ आडम्बरपूर्ण ऊँची बकवासें हैं जो कि कुलीन गिरोहबाजों के लिए हैं और और जो नये कुलीन गिरोह बनाने में प्रवृत्त हैं – पुराने नमदे के टोप को दो हजारवीं बार फिर से बनाना, पुराने सड़े हुए मांस पर मसाला लगाना – इन्हें सर्वहारा सन्देह लेकिन फिर भी सहिष्णु तरीके से सिर झटकते हुए खारिज़ करता है (वे कितनी बुरी हालत में होंगे!)। यह कोई मसाला नहीं था जिसे खारिज किया गया था बल्कि सड़ता हुआ मांस था: दो हजार बार बनाया जाना नहीं, बल्कि एक पुराना नमदा था। जब वे स्वयं रंगमंच के लिए लिखते थे और उसका मंचन करते थे तो वे आश्चर्यजनक रूप से मौलिक थे। तथाकथित उद्वेलानात्मक-प्रचारात्मक कला, जिस पर लोग – हमेशा अच्छे लोग नहीं – अपनी नाक भौं सिकोड़ते थे, नयी कलात्मक विधियों और अभिव्यक्ति के रूपों की खान थी। यहाँ से असली लोकप्रिय कला के युगों से लम्बे समय से विस्मृत भव्य तत्व पैदा हुए; जिनमें नये सामाजिक उद्देश्यों के लिए बड़े परिवर्तन किये गये थे, लुभावना आरोह और अवरोह, खूबसूरत सरलीकरण, जिसमें प्रायः विस्मयकारी लालित्य (सुरुचि या सुघड़पन) और शक्ति तथा जटिलताओं के लिए निडर दृष्टि थी। इसमें से बहुत कुछ आदिम हो सकता है, लेकिन उन अर्थों में नहीं जिन अर्थों में बुर्जुआ कला का आध्यात्मिक परिदृश्य, जोकि सिर्फ़ आभासी तौर पर सूक्ष्म, आदिम होता है। प्रस्तुति की एक शैली को इसलिए खारिज़ करना कि उसकी कुछ रचनाएँ असफ़ल रही, एक गलती होगी; ऐसी शैली को जो आधारभूत तथ्यों के लिए गहरायी तक जाने और अमूर्तन को सम्भव बनाने के लिए – अक्सर सफलतापूर्वक – प्रयासरत है।

इसीलिए लोकप्रिय कला और यथार्थवाद की कसौटी को उदारतापूर्वक और सावधानी से चुना जाना चाहिए, इसे केवल मौजूदा यथार्थवादी तथा लोकप्रिय रचनाओं से ग्रहण नहीं करना चाहिए, जैसा कि प्रायः होता है, इस तरह से करते हुए कोई रूपवादी मानदण्ड पर पहुँच जायेगा और वह केवल रूप में ही लोकप्रिय कला और यथार्थवाद होगा।

कोई रचना यथार्थपरक है या नहीं यह केवल इस बात से निर्धारित नहीं हो सकता कि यह उन मौजूदा रचनाओं की तरह है या नहीं जिन्हें यथार्थपरक कहा जाता है, या यह उनकी तरह है या नहीं जो अपने समय में यथार्थवादी थीं। कलाकृति की

किसी अन्य कलात्मक चित्रण से तुलना करने की बजाय प्रत्येक मामले में कलाकृति में जीवन के चित्रण की स्वयं उस जीवन के साथ, जिसका चित्रण किया गया है, से तुलना करनी चाहिए। जहाँ तक लोकप्रियता का सम्बन्ध है, इसकी एक अत्यधिक रूपवादी प्रक्रिया भी है जिससे सावधान रहना चाहिए। साहित्यिक कृति की बोधगम्यता केवल इस बात से सुनिश्चित नहीं की जा सकती है कि यह ठीक उसी तरह से लिखी गयी है जैसे कि वे रचनाएँ जिन्हें उनके समय में बोधगम्य समझा जाता था। वे दूसरी कृतियाँ भी जो अपने समय में बोधगम्य थीं हमेशा अपने से पहले की कृतियों की तरह नहीं लिखी गयीं। उन्हें बोधगम्य बनाने के लिए कदम उठाये गये थे। उसी तरह हमें आज नयी रचनाओं की बोधगम्यता के लिए कुछ अवश्य करना चाहिए। लोकप्रिय होना ही सिर्फ़ एक चीज़ नहीं है, लोकप्रिय बनना भी एक प्रक्रिया है।

अगर हम एक ज़िन्दा और जुझारू साहित्य की आशा रखते हैं जो कि यथार्थ से पूर्णतया संलग्न हो और जिसमें यथार्थ की पकड़ हो- एक सच्चा लोकप्रिय साहित्य- तो हमें यथार्थ की द्रुत गति के साथ हमकदम होना चाहिए। महान मेहनतकश जनता पहले से ही इस राह पर है। उसके दुश्मनों की कारगुजारियाँ और क्रूरता इसका सबूत हैं। ●

अनुवाद – ऋषि और प्रेम प्रकाश

'भारत माता की जय', अन्धराष्ट्रवाद ... छत्तीसगढ़ की जनता का दमन

(पेज 50 से जारी)

... आदिवासी नेता सोनी सोरी के चेहरे पर तेजाबी पदार्थ द्वारा हमला कराया जाना भी हाल की ही घटना है। इन सब घटनाओं की फेहरिस्त इतनी लम्बी है कि इसके लिए कई रिपोर्टें लिखी जा सकती हैं। मगर अभी तमाम जनपक्षधर बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, वकीलों पर हो रहे हमले उन्हें छत्तीसगढ़ से बाहर करने के मकसद से किये जा रहे हैं ताकि जो थोड़ी बहुत खबरें हम तक पहुँच पाती है वो भी बन्द हो जायें।

मगर अहम सवाल यह है कि राज्य के आतंक के बीच कब तक छत्तीसगढ़ की जनता को अपनी बलि देनी पड़ेगी। हिड़मे जैसे न जाने कितने आदिवासी हर रोज़ छत्तीसगढ़ में जान गँवा रहे हैं। छत्तीसगढ़ की जेलों में सालों साल बिना किसी 'एफ.आई.आर.' के बन्द आदिवासी जिस यातना का सामना हर रोज़ कर रहे है उसका हिसाब लगा पाना मुश्किल है। माओवादी होने के आरोप में गिरफ्तार जो आदिवासी जेल से 8 या 10 साल बाद छूट भी जाते हैं उनकी ज़िन्दगी का एक ऐसा हिस्सा लूट लिया जाता है जिसकी भरपाई कभी नहीं की जा सकती। ●

भगतसिंह ने कहा..... (*मैं नास्तिक क्यों हूँ?* लेख से)

"सब लोग अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे मुक़दमे का फ़ैसला क्या होना है। हफ्तेभर में वह सुना भी दिया जायेगा। मेरे लिए इस ख़याल के अलावा और क्या राहत हो सकती है कि मैं एक उद्देश्य के लिए अपने प्राणों का बलिदान करने जा रहा हूँ? ईश्वर में विश्वास करने वाला हिन्दू राजा बनकर पुनर्जन्म लेने की आशा कर सकता है, मुसलमान या ईसाई जन्नत में मिलने वाले मज़े लूटने और अपनी मुसीबतों और क़ुर्बानियों के बदले इनाम हासिल करने के सपने देख सकता है। मगर मैं किस चीज़ की उम्मीद करूँ? मैं जानता हूँ कि जब मेरी गरदन में फाँसी का फन्दा डालकर मेरे पैरों के नीचे से तख़्ते खींचे जायेंगे, सबकुछ समाप्त हो जायेगा। वही मेरा अन्तिम क्षण होगा। मेरा, अथवा आध्यात्मिक शब्दावली में कहूँ तो मेरी आत्मा का, सम्पूर्ण अन्त उसी क्षण हो जायेगा। बाद के लिए कुछ नहीं रहेगा। अगर मुझमें इस दृष्टि से देखने का साहस है तो एक छोटा-सा संघर्षमय जीवन ही, जिसका अन्त भी कोई शानदार अन्त नहीं, अपनेआप में मेरा पुरस्कार होगा। बस और कुछ नहीं। किसी स्वार्थपूर्ण इरादे के बिना, इहलोक या परलोक में कोई पुरस्कार पाने की इच्छा के बिना, बिल्कुल अनासक्त भाव से मैंने अपना जीवन आज़ादी के उद्देश्य के लिए अर्पित किया है, क्योंकि मैं ऐसा किये बिना रह नहीं सका। जिस दिन ऐसी मानसिकता वाले बहुत से लोग हो जायेंगे जो मानव-सेवा और पीड़ित मानवता की मुक्ति को हर चीज़ से ऊपर समझ कर उसके लिए अपनेआप को अर्पित करेंगे, उसी दिन आज़ादी का युग शुरू होगा।"

पूरा लेख 'नौजवान भारत सभा' की वेबसाईट www.naubhas.in पर भी उपलब्ध है ।

साहित्य

ग्वाटेमाला की जनता के संघर्षों के सहयोद्धा और जीवन के चितेरे कवि : ओतो रेने कास्तिय्यो

ओतो रेने कास्तिय्यो, जन्म: 1936, ग्वाटेमाला के क्रान्तिकारी, गोरिल्ला योद्धा और कवि थे। 1954 में **'सीआईए'** द्वारा प्रायोजित जनवादी **'आरबेन्ज़ सरकार'** के तख्तापलट के बाद कास्तिय्यो निर्वासन में एल सल्वादोर चले गये। यहाँ उनकी मुलाकात कवि **रोके दाल्तन** और दूसरे लेखकों से हुई जिन्होनें उनकी शुरुआती कविताओं के प्रकाशन में मदद की। 1957 में **आर्मास तानाशाह** के मरने के बाद वे ग्वाटेमाला वापस आये और 1959 में पढ़ाई के लिए जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक गये जहाँ से उन्होंने स्नातकोत्तर की डिग्री हासिल की। 1964 में वे ग्वाटेमाला वापस आये और **'वर्कर्स पार्टी'** में सक्रीय हो गये और साथ ही **'कैपिटल सिटी म्युनिसिपैलिटी'** में **'एक्स्पे रिमेण्टल थियेटर'** की स्थापना की। इसी दौरान इन्होंने कई कविताएँ लिखी और उन्हें प्रकाशित कराया। उसी साल कस्तिय्यो को गिरफ़्तार कर लिया गया लेकिन किसी तरह वह भाग निकलने में क़ामयाब रहे और इस बार वे यूरोप चल निकले। साल के अन्तर तक वह गुप्त रूप से ग्वाटेमाला वापस आ गये और **जाकापा पर्वतों** में चल रहे गोरिल्ला आन्दोलन में सक्रीय हो गये। **वर्ष 1967, ग्वाटेमाला के लिए दुर्भाग्यपूर्ण रहा, उसने एक योद्धा, एक कवि, एक ज़िन्दादिल नौजवान खो दिया।** 1967 का अन्त होते-होते कई क्रान्तिकारियों के साथ कास्तिय्यो भी पकड़े गये; अन्य, कॉमरेड और किसानों के साथ उन्हें भयंकर यंत्रणा दी गयी और आख़िर में उन सभी को ज़िन्दा जला दिया गया। **इस प्रकार एक योद्धा कवि अपनी मिट्टी, अपने लोगों के लिए अन्तिम साँस तक लड़ता रहा। एक बेहतर, आरामदेह ज़िन्दगी जीने के तमाम अवसर मौजूद होने के बावजूद उसने जनता का साथ चुना और आख़िरी दम तक उनके साथ ज़िन्दगी को खूबसूरत बनाने के लिए लड़ता हुआ शहीद हो गया।** ●

पेश हैं ओतो रेने कास्तिय्यो की कुछ चुनिन्दा कविताएँ

इन चन्द-एक महीनों में

यह ठूँठा पेड़
बसन्त में
चिड़ियों से भर जायेगा
और यह धुँआ बादलों
के बीच अपनी जवानी खो देगा
सर्दियों से जकड़ी और भागती हुई सड़कें
गर्मियों में बेहद आराम से चलेंगी
और पहले से कहीं अधिक भरी होंगी
मेरे नहीं होने पर।
शायद अप्रैल में इन बड़े कुत्तों से डरता यह बच्चा
नवम्बर में उन्हें पुचकार रहा होगा
और यह बूढ़ा आदमी जो अभी हमारी ओर देख रहा है
शायद किसी बेहद दूर के तारे से तब तुम्हे देखे
या किसी ताज़े खिले फूल से
जिसकी अभी कल्पना भी नहीं की जा सकती
कि वे ऐसी बूढ़ी आँखों से खिल सकते हैं।

लेकिन मेरी जान, कोई भी
कोई भी तुम्हें अपने जलते हुए हृदय से नहीं देखेगा
मानों किसी दु:ख झेलते, दूर के घायल तारे की तरह।
भोर के बिना, फूल के बिना, गौरयों के बिना।
हवा की धड़कनों से दूर
तुम्हारे बालों को सँवारता
जब आमना सामना होगा
तुम्हारी शिनाख्त से मेरी नामौजूदगी का।
तब नदी का पानी

शायद
कई पुलों को
पार कर चुका होगा।
और तुम्हारी प्यार भरी छुअन में
नामौजूद होगा मेरा सीना।
और हवा में रहेगी मेरे स्पर्श की कोमलता।

आज़ादी

तुम्हारे लिए
हमनें चमड़ी में कई आघात
जमा किये हैं
कि खड़े-खड़े भी
हम मौत की
नाप में नहीं समायेंगे।

मेरे देश में,
आज़ादी मात्र आत्मा से निकली
नाज़ुक साँस नहीं है,
बल्कि यह
चमड़ी का साहस भी है।
इसके अथाह विस्तार के
हर एक मिलीमीटर में
तुम्हामरा नाम लिखा है:
आज़ादी।
उन यंत्रणा झेले
हाँथों पर,
शोक से अचम्भित उन खुली आँखों में।
गर्व से झिलमिलाते
ललाट पर।
उस सीने में जहाँ
जीवट व्यक्ति हमारे अन्दर
महान बनता है।
खुद पर गर्व करने वाले
उन अण्डकोषों में।
वहाँ तुम्हारा नाम है,
तुम्हारी कोमलता और तुम्हारे नाम की नर्मी
उम्मीद और साहस के गीतों में गाया जाता है।

हम कई जगह झेल चुके हैं
उन यंत्रणा देने वालों की यातनाएँ
और हमारी छोटी चमड़ी पर
तुम्हारा नाम इतनी बार लिखा है,
कि अब हम मर नहीं सकते
क्योंकि आज़ादी मरती नहीं।
मगर वे हमारी यंत्रणा
बेशक लगातार जारी रख सकते हैं।
लेकिन आज़ादी, तुम हमेशा
विजयी रहोगी।
और जब हम अपनी बन्दूकों से
आख़िरी गोली दाग रहे होंगे
तो आज़ादी तुम पहली होगी
जो मेरे साथियों के कण्ठ
से गा रही होगी।
क्योंकि इस धरती के अथाह विस्तांर में
कोई भी चीज़
इतनी खूबसूरत नहीं है
जितने किसी समाप्त होती
व्यवस्था पर
आज़ाद जनता के गौरवपूर्ण
पैर।

'दी ग्रेट नॉन कनफॉरमिस्ट'

किसी भी इंसान से
यह मत पूछो
कि क्या
वह दु:खी है,
क्योंकि
इस या उस रूप में
किसी न किसी राह पर
सभी दु:ख झेल रहे हैं।

आज,
मिसाल के लिए,
मेरी मिट्टी
मैं अपनी आत्मा की गहराई तक
तुम्हारे दु:ख से दुखी हूँ।

और
तुम्हारी त्रासदी से आहत
मैं इससे
भाग नहीं सकता।

मैं तुम्हें जीऊँगा
क्योंकि तुम्हे
ज़िन्दगी की पीठ
दिखाने के लिए
मेरा जन्म नहीं हुआ है
बल्कि मेरे पास
जो श्रेष्ठ और सबसे सार्थक है:
वह है मेरी ज़िन्दगी,
उसकी गरिमा और उसकी कोमलता।

2.
यदि तुम्हारे साथ कोई दु:खी है
तो वह दीन आदमी मैं हूँ
मैं वह हूँ
जो तम्हारे भिखारियों, तुम्हारी वेश्याओं,
तुम्हारी भूख,
तुम्हारी टूटी-फूटी बस्तियों
के दुख झेल रहा है
जहाँ भूख और ठण्ड के
गिद्ध मण्डराते हैं।

लेकिन मैं सिर्फ़ अपनी
खुली आँखों से तकलीफ़ नहीं झेलता
बल्कि शरीर और आत्मा के
आघातों के साथ दु:खी हूँ
क्योंकि कुछ और होने से पहले मैं
एक विद्रोही हूँ
जो अपने समय की प्रतीक्षा
कर रहे लोगों की चमड़ी के नीचे
रहता है
ये वही आम लोग हैं
जिनके अलावा
कोई नहीं जानता कि
संघर्ष कभी त्यागा नहीं जाता
और न ही त्यागी जाती है जीत।

अपराजेय

मेरी प्यारी, हम सभी अपराजेय हैं।
इतिहास और लोगों से हम बने हैं।
जनता और इतिहास भविष्य को चलाते हैं।

और कुछ नहीं जीवन से अधिक अपराजेय;
इसके झोंके हमारी पाल में हवा भरते हैं।

जब हम हासिल करेंगे जीत तो
हमारे साथ विजयी होगी जनता, इतिहास और ज़िन्दगी।

हमारे हाथों के अन्तिम छोर पर अभी ही भोर होने लगी है
और हमारे अन्दर सुबह अपनी आँखें खोल रही है,
क्योंकि हम उसका घर बनाते हैं, उसकी किरणों के संरक्षक हैं।

हमारे साथ आओ कि लड़ाई अभी जारी है।
औरतों! अपने मिलिशिया गर्व को जगाओ।
हम सभी जीतेंगे मेरी प्यारी साथियो!

{कविताओं का मूल स्पानी (स्पेनिश) से अनुवाद और परिचय प्रस्तुति -लता}

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की कविता, मनबहकी लाल द्वारा अनूदित

खाने की टेबुल पर जिनके
पकवानों की रेलमपेल
वे पाठ पढ़ाते हैं हमको
'सन्तोष करो, सन्तोष करो'।

उनके धन्धों की खातिर
हम पेट काट कर टेक्स भरें
और नसीहत सुनते जायें
'त्याग करो, भई त्याग करो'।

मोटी मोटी तोन्दों को जो
ठूंस ठूंस कर भरे हुए
हम भूखों को सीख सिखाते
'सपने देखो, धीर धरो'।

बेड़ा गर्क देश का करके
हमको शिक्षा देते हैं
तेरे बस की बात नहीं
'हम राज करें तुम राम भजो'।

हमारे समय के दो पहलू

बुरा है हमारा यह समय
क्योंकि
हमारे समय के सबसे सच्चे युवा लोग
हताश हैं,
निरुपाय महसूस कर रहे हैं खुद को
सबसे बहादुर युवा लोग
सबसे ज़िन्दादिल युवा लोगों के
चेहरे गुमसुम हैं
और
आँखें बुझी हुई।
एकदम चुप हैं
सबसे मज़ेदार किस्सागोई करने वाले
युवा लोग,
एकदम अनमने से।
बुरा है हमारा यह समय
एक कठिन अँधेरे से
भरा हुआ,
खड़ा है
सौन्दर्य, नैसर्गिक, गति और जीवन की
तमाम मानवीय परिभाषाओं के ख़िलाफ़,
रंगों और रागों का निषेध करता हुआ।

अच्छा है हमारा यह समय
उर्वर है
क्योंकि यह निर्णायक है
और इसने
एकदम खुली चुनौती दी है
हमारे समय के सबसे उम्दा युवा लोगों को,
उनकी उम्मीदों और सूझबूझ को,
बहादुरी और ज़िन्दादिली को,
स्वाभिमान और न्यायनिष्ठा को।
"खोज लो फ़िर से अपने लिए,
अपने लोगों के लिए
जिन्हें तुम बेइन्तहां प्यार करते हो,
और आने वाले समय के लिए
कोई नयी रौशनी"
-अन्धकार उगलते हुए
इसने एकदम खुली चुनौती दी है
जीवित, उष्ण हृदय वाले युवा लोगों को।
कुछ नया रचने और आने वाले समय को
बेहतर बनाने के लिए
यह एक बेहतर समय है,
या शायद, इतिहास का एक दुर्लभ समय।
बेजोड़ है यह समय
जीवन-मरण का एक नया,
महाभीषण संघर्ष रचने की तैयारी के लिए,
अभूतपूर्व अनुकूल है
धारा के प्रतिकूल चलने के लिए।

-सत्यव्रत, परिकल्पना प्रकाशन द्वारा प्रकाशित
पुस्तक *'इस रात्रि श्यामला बेला में'* से

गतिविधियाँ

लगातार गायब हो रहे बच्चों के कारण मानखुर्द के निवासियों में रोष, किया स्थानीय थाने का घेराव

17 जून, 2016 को मुम्बई के मानखुर्द, गोवण्डी के इलाके में गायब हो रहे बच्चों के सवाल को लेकर **'नौजवान भारत सभा'** ने जनजुटान कर स्थानीय थाने का घेराव किया। वेश्यावृत्ति, अंगों के व्यापार, भीख मँगवाने आदि के लिए देशभर में बच्चे गायब करने वाले गिरोह सक्रिय रहते हैं। पूरे देश में गायब होने वाले बच्चों की संख्या के हिसाब से महाराष्ट्र शीर्ष पर है। मुम्बई में भी दक्षिण के पॉश वार्डों की अपेक्षा ईस्ट वार्ड से सबसे ज़्यादा बच्चे गायब होते हैं। पुलिस का रवैया ऐसे मामलों में एकदम लचर रहता है। अमीरों के कुत्ते गायब होने पर भी सक्रिय हो जाने वाली पुलिस गरीबों के बच्चों के गायब होने पर भी अक्सर या तो रिपोर्ट ही नहीं लिखती है या फिर रिपोर्ट के बावजूद कार्रवाई नहीं करती है। गायब बच्चों के माँ-बाप को एक ओर अपने बच्चों के गायब होने का दुख होता है तो दूसरी ओर पुलिस का संवेदनहीन रवैया उनके घावों पर मिर्च छिड़कने का काम करता है।

मानखुर्द, गोवण्डी के इलाके में भी लम्बे समय से बच्चों को गायब करने वाले गिरोह सक्रिय हैं। इलाके से अनेक बच्चों के गायब हो जाने के बावजूद भी पुलिस आज तक किसी गिरोह का पर्दाफाश नहीं कर पायी है। इलाके में नशे का व्यापार करने वाले तमाम गुण्डा गिरोह भी सक्रिय हैं, जिसके कारण लड़कियों के साथ छेड़छाड़ की अनेक घटनाएँ होती रहती हैं। लगभग तीन महीने पहले ज्योर्तिलिंगनगर के इलाके से चार साल की एक बच्ची गायब हो गयी थी, बाद में उसकी लाश मिली। पोस्टमार्टम में बलात्कार के बाद हत्या की पुष्टि हुई। पुलिस ने दवाब में आकर एक लड़के को गिरफ़्तार किया पर अब उसे सबूतों के अभाव में छोड़ने की तैयारी चल रही है। इस लड़की के गायब होने से कुछ ही दिन पहले उसी गली से एक दूसरी बच्ची भी गायब हुई थी पर उसका भी आज तक कोई पता नहीं चला है। इलाके में ऐसे अनेक माँ-बाप हैं जिनकी यही कहानी है। नौजवान भारत सभा ने इसी को लेकर इलाके में पिछले 15 दिन से अभियान चलाया। जिसके बाद यह तय हुआ कि इस मसले पर पहले तो इलाके के स्थानीय मानखुर्द थाने का घेराव किया जाय व बाद में मुम्बई पुलिस के हेडक्वार्टर का। नौजवान भारत सभा की अगुवाई में 17 जून 2016 को लगभग 100 लोगों ने मानखुर्द के ज्योर्तिलिंगनगर से पुलिस स्टेशन तक विरोध मार्च निकाला व बाद में थाने का घेराव किया।

इसके बाद वरिष्ठ पुलिस 'इंस्पेक्टर' एन.एच.शेख को मुम्बई पुलिस कमिश्नर के नाम आन्दोलनकर्ताओं ने ज्ञापन भी दिया। आन्दोलनकारियों द्वारा उठाये गये तमाम सवालों का पुलिस अधिकारी ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। "जब बच्चों की देखभाल अच्छे से नहीं कर सकते तो उन्हें जन्म ही क्यों देते हो", ऐसे संवेदनहीन सवाल गुमशुदा बच्चों के माँ-बाप से पुलिस कैसे कर सकती है, यह पूछने पर पुलिस 'इंस्पेक्टर' शेख ने कहा कि पुलिस हवलदार के ऐसे शब्दों की तरफ़ ध्यान मत दीजिये, वरिष्ठ अधिकारी जो बोलते हैं सिर्फ़ उसी की बात कीजिये। जिस चार वर्ष की बच्ची की बलात्कार के बाद हत्या हुई थी, उसकी माँ के साथ भी पुलिस ने अशोभनीय बर्ताव किया था। माँ ने जब यह शिकायत एन. एच. शेख से की तो उन्होंने न्यायाधीश की तरह बर्ताव किया व फैसला दे दिया कि पुलिस तो ऐसा कर ही नहीं सकती।

इलाके में नशे के गैरक़ानूनी व्यापार के बारे में पूछने पर उन्होंने अफसोस जाहिर किया कि "क़ानून में खामियाँ होने की वजह से अपराधियों को कठोर दण्ड नहीं मिलता है व इसी कारण नशे के व्यापार पर रोक लगाना मुश्किल है।"

नौजवान भारत सभा के नारायण खराडे ने बताया कि मासूम बच्ची के साथ बलात्कार व हत्या प्रकरण में पुलिस ने अगले तीन दिन में चार्जशीट दाखिल करने का आश्वासन दिया है। उसके बाद आन्दोलन की अगली दिशा तय की जायेगी। साथ ही पुलिस के असंवेदनशील बर्ताव के बारे में महिला आयोग व मानवाधिकार आयोग के पास भी शिकायत दर्ज करायी जायेगी। ●

हरियाणा बिजली निगम की 23 'सब-डिवीजनों' के निजीकरण के ख़िलाफ़ प्रदर्शन!

नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन व बिगुल मज़दूर दस्ता की हरियाणा इकाइयों द्वारा बिजली निगम के 23 'सब डिविजनों' को निजी हाथों में सौंपने के विरोध में दो दिवसीय (29-30 जून) राज्यव्यापी हड़ताल में भगीदारी की गयी। नरवाना, कैथल से लेकर रोहतक में हड़ताल स्थल पर बिजलीकर्मियों के कन्धे से कन्धा मिलाकर संघर्ष में साथ रहे। साथ ही नौभास द्वारा बिजली निगम के 'सब-डिविजनों' के निजीकरण के विरोध में परचा वितरण, नुक्कड़ सभा व दीवार पोस्टर जैसे जन-अभियान चलाकर खट्टर-मोदी सरकार की जन-विरोधी नीतियों को जनता के सामने बेपर्द करने का काम किया।

वक्ताओं ने बताया कि पिछले साल प्रदेश की खट्टर सरकार ने बिजली के दाम बढ़ाकर जनता की जेब पर सरेआम डाकेजनी की थी। अब खट्टर सरकार 34 हजार करोड़ का 'घाटा' दिखाकर हरियाणा के 23 'सब-डिवीजनों' को निजी हाथों में सौंपने की तैयारी कर रही है। सरकार के इस जन-विरोधी फैसले के ख़िलाफ़ बिजलीकर्मी 'हरियाणा ज्वाईण्ट एक्शन कमेटी पॉवर' के बैनर तले पिछले दो माह से जन अभियान चला रहे थे। इन दो महीनों में बिजलीकर्मियों ने धरना, प्रदर्शन, क्रमिक अनशन, मशाल जुलूस, सेमीनार आदि के माध्यम से अपने संघर्ष को हरियाणा की जनता तक पहुँचाया। 29 और 30 जून को बिजली कर्मचारियों ने राज्यव्यापी हड़ताल के ज़रीये भाजपा सरकार की पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाने वाली नीतियों का मुहँतोड़ जवाब दिया। वहीं खट्टर सरकार ने हिटलरी फरमान ज़ारी करते हुए हड़ताल रोकने हेतु छह महीने के लिए 'एस्मा' जैसा काला कानून लागू कर दिया था लेकिन हड़ताल को समर्थन देने और सरकार की जन-विरोधी नीतियों की मुख़ालफ़त करने के लिए बिजलीकर्मियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाते हुए रोडवेजकर्मी, पब्लिक हेल्थ कर्मी व अध्यापक संघ से लेकर तमाम छात्र-युवा संगठन भी मैदान में आ डटे थे। 'नौजवान भारत सभा' ने भी तहेदिल से बिजलीकर्मियों के संघर्ष का समर्थन किया। नौभास के रमेश खटकड़ ने बताया कि भाजपा सरकार की निजीकरण की जन-विरोधी नीतियों का नुकसान सिर्फ़ कर्मचारियों-मज़दूरों को ही नहीं बल्कि हरियाणा की आम जनता को भी हो रहा है। 1990 से जारी उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों का देश की आम जनता पर भयंकर असर पड़ा है। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, बिजली, पानी आदि जैसी बुनियादी ज़रूरतें एक-एक करके लगातार हमसे छीनी जा रही हैं। कांग्रेस-भाजपा से लेकर तमाम क्षेत्रीय दल उदारीकरण की इन नीतियों के प्रति एकमत हैं। सरकारों का मूल मंत्र बस यही रह गया है कि पहले किसी विभाग को घोर अव्यवस्था में धकेल दिया जाये और फ़िर मौका देखकर उसे बोली लगाकर प्राईवेट हाथों में सौंप दिया जाये। बिजली विभाग को ही लें तो निगम में खाली पड़े करीब 30,000 स्थायी पदों को भरना तो दूर रहा उल्टा सरकार विभाग को ही नीलाम करने पर उतारू है। बिजली निगम के निजीकरण का मतलब जीवन की बुनियादी ज़रूरत को मुनाफाखोरी के धन्धे में तब्दील कर देना होगा! अम्बानी-अदानी जैसे पूँजीपति उससे अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमायेंगे और बेतहाशा 'रेट' बढ़ायेंगे। बिजली निगम के निजीकरण के बाद न तो युवाओं को पक्का रोज़गार मिलेगा न ही जनता को सस्ती बिजली। हमें यह बात समझनी होगी कि किसी भी विभाग में 'घाटा' दिखाकर निजी हाथों में सौंपने की चाल असल में चन्द मुट्ठीभर पूँजीपतियों को फ़ायदा पहुँचाने की चाल है। आज बिजली निगम को बचाने के लिए बिजली कर्मचारी आन्दोलन के मैदान में है। भाजपा सरकार कर्मचारियों को बदनाम करके जनता व कर्मचारियों का टकराव करवाने के प्रयास कर रही है, जिसको हम सफल नहीं होने देंगे।

उन्होंने आगे कहा कि सरकारें पक्का रोज़गार, शिक्षा, चिकित्सा, बिजली, पानी ही जनता को मुहैया नहीं करा सकती तो फिर ये हैं ही किसलिए?! जनता के हितों पर हो रहे लगातार हमलों के ख़िलाफ़ यदि हमने आवाज़ नहीं उठाई तो आने वाली पीढ़ी ज़रूर हमारी कायरता पर सवाल उठायेगी! क्या हम साझे मुद्दों पर भाईचारा कायम करके जनान्दोलन संगठित करने की बजाय यूँ ही जाति-धर्म और आरक्षण के नाम पर एक-दूसरे का ही सर फोड़ते रहेंगे? हरियाणा की भाजपा सरकार के द्वारा किये जा रहे बिजली के निजीकरण के ख़िलाफ़ व्यापक जन-आन्दोलन के लिए एकजुट हुआ जाये। हमारी एकजुटता ही हमारी जीत की गारण्टी है। इस प्रकार दो दिन तक चली बिजली कर्मचारियों की उक्त हड़ताल सफल रही। ●

नौजवान भारत सभा द्वारा बस किराये में बढ़ोत्तरी का विरोध

हरियाणा सरकार के द्वारा बस किराये में की गयी बढ़ोत्तरी के ख़िलाफ़ **'नौजवान भारत सभा'** ने प्रदर्शन आयोजित किये। प्रदर्शनकारियों ने तख्तियाँ लेकर खट्टर सरकार विरोधी जुलूस निकाला तथा पुतला दहन किया। नुक्कड़ सभा को सम्बोधित करते हुए नौभास के सुशील ने बताया कि विधानसभा चुनावों में भाजपा महँगाई पर रोक लगाने, पक्के

रोज़गार देने आदि आदि मुद्दों पर जनता को गुलाबी सपने दिखा रही थी, लेकिन सत्ता में लगभग दो साल गुजारने के बाद महँगाई जनता की पहले से भी ज़्यादा कमर तोड़ रही है और अब बस किराये में 13.3 प्रतिशत बढ़ोत्तरी करके खट्टर सरकार ने जनता की सरेआम जेब काटने जैसा काम किया है। बस किराये में बढ़ोत्तरी का सबसे ज़्यादा नुकसान आम मेहनतकश जनता को होगा। एक तरफ सरकार लगातार रोडवेज़ का निजीकरण करके निजी बस माफिया को बढ़ावा दे रही है और दूसरी तरफ़ सरकार के पास नयी खरीदी 950 बसें खड़ी- खड़ी बर्बाद हो रही हैं। सरकार जन सरोकारों से सरेआम मुँह मोड़ रही है तभी तो सार्वजानिक उपक्रम बर्बाद होने के लिए रख छोड़े गये हैं। चौशाला गांव में हुए प्रदर्शन में प्रवीण ने बताया कि असल में मोदी-खट्टर सरकार के जुमलों की पोल खुल चुकी है। एक ओर महँगाई बेलगाम है तो दूसरी ओर सरकार लगातार सेवा कर बढ़ाती जा रही है। यह सारा का सारा बोझ अन्त में आम जनता पर ही पड़ता है। लोग सरकार की जनविरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ आवाज़ न उठायें इसलिए जाति-धर्म के नाम पर बाँट देने का घृणित खेल भी जारी है। ऐसे समय में हरियाणा के छात्रों-युवाओं से लेकर मज़दूरों-गरीब किसानों को मोदी-खट्टर सरकार की जन-विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ व्यापक जन संघर्ष की शुरुआत करनी होगी। ●

शिमला में शहीद भगतसिंह पुस्तकालय की स्थापना

गत 24 अप्रैल 2016 को 'शहीद भगतसिंह विचार मंच' द्वारा शिमला शहर के टूटु इलाके में 'शहीद भगतसिंह लाइब्रेरी' का उद्घाटन किया गया, जिसमें शहर के वरिष्ठ नागरिकों, बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, और विद्यार्थियों ने बड़ी संख्या में शिरकत की। इस अवसर पर समागत लोगों ने आज के इस अन्धकारमय समय में नये सिरे से प्रगतिशील विचारों को आम जनता तक पहुँचाने की ज़रूरत को बड़ी शिद्दत से महसूस किया और इस मुहिम के प्रारम्भ के तौर पर शहीद भगतसिंह पुस्तकालय की स्थापना की प्रशंसा की। नमिता ने शहीद भगतसिंह पुस्तकालय के उद्देश्यों के बारे में विस्तारपूर्वक बताते हुए कहा कि इसका मुख्य उद्देश्य जनता और खासतौर पर नौजवानों तथा बच्चों के बीच किताबों, फ़िल्मों, और विचार गोष्ठियों के ज़रिये प्रगतिशील विचारों को पहुँचाना है। वरिष्ठ कवि श्री आत्मा रंजन जी ने कहा कि आज जब पूँजीवादी मीडिया हमारे बच्चों को अश्लील, नारी-विरोधी, हिंसक और अवैज्ञानिक सामग्री प्रदान कर रहा है तो ऐसे में जनता के सहयोग से चलने वाले वैकल्पिक मीडिया को खड़ा करने की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है। शिमला के मेयर श्री संजय चौहान ने इसी तरह के पुस्तकालय शिमला के विभिन्न इलाकों और हिमाचल प्रदेश के अन्य जिलों में खोलने के लिए अधिकतम सहयोग देने की बात कही। शिमला के

डिप्टी मेयर श्री टिकेन्दर पंवार ने भी जनता के बीच एक जनवादी संस्कृति को पैदा करने के लिए इस तरह के अन्य और भी प्रयासों को व्यापक स्तर पर शुरू किये जाने में अपनी ओर से सहयोग देने की बात कही।

जनता के सहयोग से चलने वाला शहीद भगतसिंह पुस्तकालय अपने उद्देशों की पूर्ति में सफलतापूर्वक आगे बढ़ रहा है। पुस्तकालय में हर शाम बच्चों और नौजवानों की चहल

पहल रहती है। पुस्तकालय के प्रबन्धक मनन ने बताया कि बहुत सारे बच्चों ने काफ़ी सारा उपलब्ध बाल साहित्य कुछ ही दिनों में पढ़ लिया और रोज़ नयी किताबों की माँग करते हैं, इसलिए जल्द ही ढेरों नयी किताबें मँगवायी जायेंगी। इस वैचारिक मुहिम को अधिक लोगों तक फ़ैलाने के लिए किताबों के अलावा अन्य दिलचस्प कलात्मक रूपों का भी बखूबी इस्तेमाल किया जा रहा है। 15 मई, 2016 को शहीद भगतसिंह विचार मंच द्वारा पुस्तकालय में चार्ली चैपलिन की फ़िल्म 'मॉडर्न टाइम्स' दिखायी गयी तथा इस पर विचार चर्चा का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम में बड़ी संख्या में नौजवान तथा बच्चे मौजूद रहे और फ़िल्म के दौरान सभी दर्शक हँसते-हँसते खूब लोट-पोट हुए। अमन ने कहा कि चार्ली चैपलिन द्वारा निर्देशित यह फ़िल्म पूँजीवादी व्यवस्था के मानवद्रोही चरित्र को अलग-अलग दृश्यों के माध्यम से बखूबी पेश करती है। आज जब भारत समेत पूरे विश्व में लगातार बढ़ रही बेरोज़गारी, महँगाई, और ग़रीबी के ख़िलाफ़ मेहनतकश जनता सड़कों पर है तो ऐसे में यह फ़िल्म आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी 1936 में थी। नमिता ने कहा कि यह फिल्म हमें दिखाती है कि पूँजीवादी व्यवस्था में रहते हुए किस प्रकार एक जीता-जागता इंसान महज़ एक मशीन के पुर्जे में तब्दील होकर रह जाता है। इसके पश्चात, फिल्म शो के दौरान उपस्थित दर्शकों ने इस फिल्म के प्रति अपने विचार रखे तथा इस तरह के आयोजन समय-समय पर करते रहने कि बात कही। इसके अलावा, उन्होंने इस पूरी मुहिम को आगे बढ़ाने के लिए हर सम्भव मदद देने की भी बात कही। ●

चण्डीगढ़ में फ़िल्म क्लब का गठन

सिनेमा का विकास मानवीय प्रगति के सफर में एक अहम पड़ाव है। आज के समय में यह हमारे जीवन का एक महत्वपूर्ण

अंग बन चुका है। आधुनिक युग की सबसे प्रभावशाली कला, यानी सिनेमा की समाज को बदलने में अहम भूमिका के प्रति सचेत कुछ छात्रों और नौजवानों ने चण्डीगढ़ में 'चण्डीगढ़ सिनेफाइल्स' नाम से एक फ़िल्म क्लब का गठन किया है। इस मंच का मक़सद दुनिया की बेहतरीन फ़िल्मों को आम लोगों तक लेकर जाना, सिनेमा को बेहतर ढंग से समझने के लिए फ़िल्म सिद्धान्त और फ़िल्म इतिहास सम्बन्धी लेक्चर और विचार गोष्ठियों का आयोजन करना व फ़िल्म निर्माण के साथ जुड़े व्यक्तियों तथा सिद्धान्तकारों और आम दर्शकों के बीच मेल मिलाप करवाकर कला की इस विधा के कलाकारों/सिद्धान्तकारों और आम जनता के बीच बनी हुई खाई को पाटना है। इन उद्देश्यों को लेकर बने इस मंच ने अपना पहला कार्यक्रम 7 मई 2016 को आयोजित किया जिसमें विश्वप्रसिद्ध फ़िल्मकार सत्यजीत रे की फ़िल्म 'जन अरण्य' दिखायी गयी। फ़िल्म-शो में 20 के करीब दर्शकों ने शिरकत की। फ़िल्म के बाद सक्रिय विचार-चर्चा भी हुई जिसमें सभी दर्शकों ने फ़िल्म के अलग-अलग पक्षों पर बातचीत की और साथ ही 'चण्डीगढ़ सिनेफाइल्स' के इस काम की प्रशंसा भी की। दर्शकों ने माना कि सत्यजीत रे की यह बेहतरीन फ़िल्म इंसानी संवेदनाओं को जगाती है और आज के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हालात के प्रति लोगों में बेचैनी पैदा करती है। उत्साह से भरे हुए दर्शकों ने इस काम को और आगे बढ़ाने के लिए मंच से जुड़े हुए छात्रों नौजवानों का उत्साहवर्धन भी किया। 'चण्डीगढ़ सिनेफाइल्स' की तरफ से भविष्य में भी लगातार चण्डीगढ़ और इसके आसपास के क्षेत्रों में नियमित तौर पर फ़िल्म-शो, फ़िल्म-मेले और प्रदर्शनियाँ लगायी जायेंगी। ●

कॉलेज प्रशासन के तानाशाहीपूर्ण रवैये के ख़िलाफ़ 'पटना आर्ट कॉलेज' के छात्रों का आन्दोलन

गत 28 अप्रैल को पटना के कला एवं शिल्प महाविद्यालय में आठ छात्रों पर अनुशासनहीनता का झूठा आरोप लगाकर अनिश्चित काल के लिए उन्हें निलम्बित कर दिया गया था| इस अन्यायपूर्ण फैसले के विरोध में छात्रों ने 2 मई से अपने आन्दोलन की शुरुआत की जिसमें निलम्बन वापसी और प्रभारी प्राचार्य की बर्खास्तगी की माँग प्रमुख थी| आन्दोलन की शुरुआत एक छोटी सी घटना से हुई| विगत 21 अप्रैल को कॉलेज के एक छात्र 'विश्वेन्द्र' ने वहाँ के एक निर्माण ठेकेदार को हॉस्टल से अवैध तरीके से बिजली कनेक्शन लेने से रोका तो ठेकेदार ने बेरहमी से उसकी पिटाई की, उसे कॉलेज के प्राचार्य के सामने भी पीटा गया और प्राचार्य चन्द्रभूषण श्रीवास्तव ने इस पर चूँ तक नहीं की। जब कॉलेज के छात्रों ने प्रभारी प्राचार्य चन्द्रभूषण श्रीवास्तव से इस मामले को लेकर कार्रवाई करने की माँग की तो प्राचार्य ने कॉलेज के ही आठ

छात्रों पर अनुशासनहीनता का आरोप लगाकर उन्हें निलम्बित कर दिया| जब इस मसले पर विश्वविद्यालय प्रशासन भी सुनने को तैयार नहीं हुआ तो इसके विरोध में छात्रों ने 2 मई से निर्दोष छात्रों की निलम्बन वापसी और प्रभारी प्राचार्य की बर्खास्तगी की माँग को लेकर आन्दोलन की शुरुआत की| यह आन्दोलन महज़ एक इस छोटी सी घटना का परिणाम नहीं था बल्कि यह लम्बे समय से प्रशासन के अन्यायपूर्ण रवैये और कॉलेज में चल रही प्राचार्य की तानाशाही का परिणाम था| चन्द्रभूषण श्रीवास्तव की नियुक्ति के ऊपर भी छात्रों के सवाल थे| प्रशासन द्वारा एक ऐसे प्राचार्य को नियुक्त किया गया जिसने कला के क्षेत्र से स्नातक भी नहीं किया था| उसके इतर प्रभारी प्राचार्य चन्द्रभूषण श्रीवास्तव के कार्यकाल के दौरान कॉलेज गुण्डागर्दी का अड्डा बना हुआ था| उनका जातिवादी और स्त्री विरोधी रुख भी जग जाहिर था| इन्ही कारणों से छात्रों ने प्राचार्य की बर्खास्तगी को लेकर आन्दोलन की शुरुआत की| आन्दोलन के शुरुआती दौर में छात्र कॉलेज के गेट पर 9 दिनों तक धरने पर बैठे परन्तु जब प्रशासन की तरफ से कोई पहल नही ली गयी तो छात्रों ने अनिश्चितकालीन अनशन पर बैठने का फ़ैसला लिया| हालाँकि यह फ़ैसला जल्दबाजी में लिया गया फ़ैसला था क्योंकि तब तक छात्रों ने सारे रास्ते नहीं तलाशे थे| भूख हड़ताल में 9 लोग शामिल थे, **'दिशा छात्र संगठन'** की तरफ से भास्कर और रितेश भी इसमें शामिल रहे| भूख हड़ताल के करीब 5-6 दिनों बाद छात्रों की हालत गम्भीर होने पर भी विश्वविद्यालय कुलपति वाई.सी. सिम्हाद्री के कानों में जूं तक नही रेंगी| साफ़ तौर पर चन्द्रभूषण श्रीवास्तव को वि.वि. प्रशासन का मौन समर्थन प्राप्त था| कुलपति वाई.सी. सिम्हाद्री के कार्यकाल के दौरान उनके छात्र विरोधी रवैये से सभी वाकिफ़ हैं| जब अनशन से कोई परिणाम नहीं निकलता दिखा तो 21 मई को कला महाविद्यालय के छात्र कुलपति आवास पर अपनी माँगों को लेकर गये परन्तु वहाँ उलटे कुलपति ने अपने अंगरक्षक द्वारा छात्रों पर हवाई फ़ायर करवा दिये| इस घटना का विरोध करते हुए एवं अपनी माँगों को लेकर 31 मई को राजभवन तक छात्रों ने मार्च निकाला| छात्रों के एक प्रतिनिधिमण्डल से राजभवन के विशेष पदाधिकारी ने बातचीत के बाद इस मामले पर कार्रवाई करने का आश्वासन दिया परन्तु इस पर भी कोई कार्रवाई नहीं की गयी| इसी दौरान आन्दोलन के बीच में ही प्रशासन ने परीक्षा की तिथि घोषित कर दी| यह एक तरह से आन्दोलन को तोड़ने की कोशिश भी थी| छात्रों ने परीक्षा के बहिष्कार का फैसला किया और इसको लेकर जब छात्र परीक्षा का बहिष्कार करने परीक्षा भवन पहुँचे तब बिहार में सत्तासीन पार्टी जदयू के छात्र संगठन 'छात्र समागम' से जुड़े लोगों ने आन्दोलनकारी छात्रों के साथ मारपीट की जिसमें कई छात्र गंभीर रूप से घायल हुए और इस घटना के उपरान्त उल्टा आर्ट कॉलेज के ही 6 छात्रों पर झूठी एफ़.आई.आर. दायर कर दी और उन्हें हिरासत में ले लिया गया| आन्दोलन को महीने से ऊपर होने को था, राजभवन से लगातार वार्ता चल रही थी परन्तु अपनी समस्याओं का कोई हल न निकलता देख व सरकार एवं विश्वविद्यालय प्रशासन की बेरुखी से तंग आकर कॉलेज के एक दलित छात्र नितीश ने आत्महत्या करने का प्रयास किया| हालाँकि समय रहते उसे बचा लिया गया| गौतलब है कि नितीश के साथ पहले से ही प्राचार्य द्वारा घटिया व्यवहार किया जाता रहा है और इसके ख़िलाफ़ उसने शिकायत भी दर्ज करायी थी पर परिणाम शून्य|

लगभग डेढ़ महीने तक प्रशासन और मौजूदा नितीश सरकार चुप्पी साधे रहे और इनके द्वारा आन्दोलन को तोड़ने की कोशिशें होती रही पर छात्र अपनी माँगों को लेकर डटे रहे| आखिर में लगातार हो रहे प्रदर्शन के दबाव में अन्ततः वि.वि. प्रशासन ने निलम्बित छात्रों की अस्थाई वापसी व प्राचार्य को एक महीने की छुट्टी देने का फैसला किया है परन्तु अभी भी कॉलेज में स्थायी प्राचार्य की बहाली नहीं की गयी है| प्रभारी प्राचार्य के रूप में प्रोफेसर 'अरूण कमल' को नियुक्त किया गया है| साथ ही गिरफ़्तार छात्रों को भी बेल मिल चुकी है परन्तु छात्र अभी भी प्रभारी प्राचार्य चन्द्रभूषण श्रीवास्तव की पूर्ण बर्खास्तगी की माँग को लेकर डटे हुए हैं| इसी क्रम में इस मामले पर राज्य सरकार को घेरने के लिए विधानसभा तक प्रतिरोध मार्च निकाला गया| रिपोर्ट लिखे जाने तक संघर्ष जारी है| इस आन्दोलन के दौरान यह साफ़ देखने को मिला कि चुनावबाज पार्टियों के छात्र संगठनों के कारण आन्दोलन को किस कदर नुकसान होता है| आन्दोलन को अपने नेतृत्व में रखने के लिए इन तथाकथित 'क्रान्तिकारी' छात्र संगठनों ने छात्रों के हित को परे रखकर हर हथकण्डे का इस्तेमाल किया| डेढ़ महीने से ऊपर जब आन्दोलन खिंचा तो अन्त में आन्दोलन में शामिल छात्रों की संख्या भी बेहद कम होती गयी | यह देखते हुए भी कि कुल 200 छात्रों की संख्या में से मात्र 15-20 छात्र ही सक्रिय थे, तो भी आन्दोलन को खींचा गया| इस आन्दोलन से एक चीज़ स्पष्ट रूप से साबित हो गयी कि किस प्रकार अपना मतलब निकालने के लिए चुनावी पार्टियों के छात्र संगठन किसी भी आन्दोलन को ले डूबते हैं| यह साफ़ है कि हम चुनावी दलों के पिछलग्गू छात्र संगठनो पर निर्भर नहीं रह सकते| हमें अपना विकल्प खुद निर्मित करना होगा और छात्र राजनीति में एक ऐसा विकल्प खड़ा करना होगा जो किसी भी चुनावी पार्टी का पिछलग्गू छात्र संगठन न हो| ●

बढ़ते स्त्री विरोधी अपराधों के ख़िलाफ़ परचा वितरण

दिनांक 13 मई को **दिशा छात्र संगठन** की महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा) इकाई और स्त्री मुक्ति लीग के द्वारा देश भर में हो रहे बलात्कार जैसे घिनौने स्त्री विरोधी अपराधों के मुद्दे पर व्यापक परचा वितरण किया गया| इस दौरान विभिन्न छात्र-छात्राओं से इसी मुद्दे पर ही बातचीत भी की गयी| **'दिशा छात्र संगठन'** के इन्द्रजीत ने बताया कि विगत 28 अप्रैल को केरल के एर्नाकुलम में एक कानून की छात्रा के साथ बलात्कार और हत्या का जघन्य मामला सामने आया था। कुछ ही दिन बाद यहीं के ही वरकला में बलात्कार का एक अन्य मामला सामने आया| देश में साक्षरता दर सबसे ज़्यादा होने के बावजूद जब केरल में ही पिछले साल 1,347 महिलाओं के साथ बलात्कार के मामले दर्ज हुए हैं तो देश भर में होने वाले बलात्कारों की भयावहता का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है। साल 2004 में जहाँ बलात्कार के 18,223 मामले दर्ज हुए थे वहीं साल 2014 में इनकी संख्या बढ़कर 36,735 हो गयी! निर्भया-डेल्टा मेघवाल-जीशा और न जाने कितनी निर्दोष बलात्कार और हत्या की बली चढ़ा दी जाती हैं लेकिन कानून-पुलिस-नेताशाही और समाज मूकदर्शक बनकर देखते रह जाते हैं। एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत में हर घण्टे करीब 22 बलात्कार के मामले दर्ज होते हैं। और ये तो वे हैं जो दर्ज होते हैं, जिन्हें पुलिस द्वारा दर्ज ही नहीं किया जाता या फिर माँ-बाप के द्वारा लोक-लाज के भय से दर्ज कराया ही नहीं जाता उनकी तो गिनती ही क्या की जाये! इस समय हमारे देश में 95,000 से भी अधिक बलात्कार के मामले लम्बित पड़े हैं। अपराधियों को बहुत बार तो सजा मिल ही नहीं पाती और यदि मिलती भी है तो किसी ने ठीक ही कहा है कि देरी से मिलने वाला न्याय असल में न्याय होता ही नहीं! **'स्त्री मुक्ति लीग'** की अदिति ने कहा कि कुछ भी कहें लेकिन हम एक गज़ब के पाखण्डी समाज में जी रहे हैं। एक तरफ़ तो नारी रूप की पूजा की जाती है किन्तु दूसरी तरफ़ उसे पैर की जूती भी समझा जाता है। यह बात दिमाग में होनी चाहिए कि जो समाज आधी आबादी को पैर की नौक पर रखे और उसके सम्मान और गौरव को हर समय तार-तार करे तो उसके बरबाद होने में ज़्यादा देर नहीं लगती! यदि हमारे अन्दर ज़रा भी आत्मसम्मान और आत्मगौरव बचा है तो हम कैसे मूकदर्शक बनकर स्त्री उत्पीड़न और बलात्कार जैसे कुकृत्यों को होते हुए देखते रह सकते हैं? हम भी आखिर इस समाज का ही हिस्सा हैं; ऐसे में आँच हमारे घरों तक पहुँचने में ज़्यादा वक्त कहाँ है? हमें इस समस्या को समझना होगा, इसकी जड़ों तक जाना होगा और कारणों को जानकर उनका निदान करना होगा। ●

छपते-छपते

कश्मीरी जनता का मौजूदा दमन: देश कागज़ पर बना नक्शा नहीं होता

कश्मीर में बुरहान वानी के 'एनकाउण्टर' के बाद घाटी में युद्ध जैसे हालात बने हुए हैं। वानी की मौत के बाद हज़ारों की संख्या में लोग सड़कों पर उतरे। वानी हिजबुल मुजाहिदीन नामक उग्रवादी संगठन से जुड़ा था। प्रदर्शनकारियों और सेना-पुलिस की झड़पों में अब तक 50 से अधिक लोग मारे जा चुके हैं और हजारों घायल हो गये हैं। इज़रायली ज़ायनवादियों जैसे हथियारों, आँसू गैस के गोलों, गोलियों और छर्रों का भरपूर इस्तेमाल किया जा रहा हैं। छर्रों के इस्तेमाल के कारण बहुत सारे लोगों की आँखों की रौशनी चली गयी है। घाटी में युद्ध जैसे हालात हैं। प्रेस पर पाबन्दी लगा दी गयी है, कर्फ्यू में कोई ढील नहीं है। कश्मीर विश्व में सेना की सबसे सघन उपस्थिति वाला क्षेत्र है। नागरिक और संवैधानिक अधिकारों का सेना के बूटों की धमक के तले कोई मतलब नहीं है।

"देशभक्त" और "राष्ट्रवादी" भारतीय मध्यवर्ग को कश्मीर भारत के ताज के रूप में तो चाहिए किन्तु कश्मीरी जनता के प्रति उसे कोई हमदर्दी नहीं है। गुमनाम कब्रें, बलात्कृत औरतें, मरते हुए लोग भारतीय मध्यवर्ग को दिखायी नहीं देते जैसे उनकी आँखों पर पहाड़ी टट्टू की तरह से पट्टा बन्धा हो। देश कागज़ पर बना कोई नक्शा नहीं होता, यदि वहाँ के नागरिकों के जीवन की कोई कीमत नहीं है तो ऐसे देश की बात करने का कोई अर्थ नहीं है। हमारा मानना है कि आज हर इंसाफ़पसन्द इंसान को कश्मीर की जनता के आत्म निर्णय के अधिकार का बिना शर्त समर्थन करना चाहिए व कश्मीरी जनता के संघर्ष के पक्ष में तथा सत्ता के दमन के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी चाहिए। यहाँ यह बात भी साफ़ हो कि कश्मीरी जनता के संघर्ष के समर्थन का अर्थ मौजूदा कट्टरपन्थी आतंकी और उग्रवादी संगठनों का समर्थन नहीं है, किसी भी तरह का आतंकवाद और कट्टरपन्थ बेशक निन्दनीय है किन्तु कुछ तो कारण होंगे जिनकी बदौलत कश्मीर की नौजवानी आतंकवाद की गिरफ्त में आ रही है! पत्रिका के अगले अंक में हम इस मुद्दे पर विस्तारपूर्वक अपनी बात रखेंगे। ●

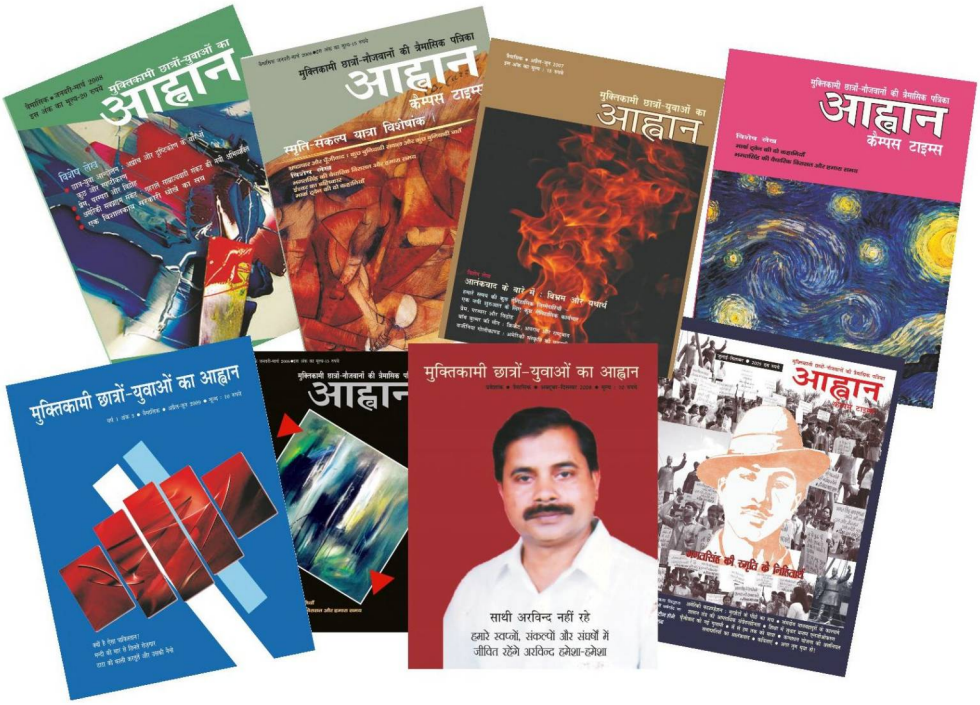

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

आह्वान के नियमित पाठकों के लिए एक विशेष उपहार :

आह्वान के सभी उपलब्ध अंकों का सेट मात्र रु. 200 में!

(डाक व्यय अतिरिक्त)

दिलचस्पी रखने वाले सभी पाठक लिखें :

सम्पादकीय कार्यालय :

बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-110094

फोन : 9999750940

खत्म करो पूँजी का राज लड़ो, बनाओ लोक-स्वराज!

हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से ख़ारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से ख़ारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के क़ाबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फैसले की पूरी ताक़त उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है–'सारी सत्ता मेहनतकश को!'

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारखानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन,
स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन

द्वारा चलाये जा रहे

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94, फ़ोन : 011-64623928
ईमेल : disha.du@gmail.com